ओ३म्

जन ज्ञान (मासिक)

भाद्रपद
२०३

अथर्ववेदीय

मन्त्र विद्या

मूल्य
५)

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक
द्वारा लिखित महत्त्वपूर्ण
शोध ग्रन्थ

दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली-५

क्या श्रावणी पर भी सोते रहोगे ?

आर्य समाजों के अधिकारियों से, आर्य जनता से हमारा आग्रह है कि वे श्रावणी पर जागें और २१ अगस्त से ३० अगस्त तक पूरे बल से अपने-अपने क्षेत्र में वेद-प्रचार सप्ताह मनाएं !

सप्ताह-भर प्रभावशाली यज्ञ का आयोजन श्रद्धा सहित सप्ताह भर प्रातः …ल किए जाएं ।

…—१. वेद ही ईश्वरीय ज्ञान क्यों ? २. वेद का मार्ग, ३. सब …ं का मूल : वेद, ४. वेद धर्म की विशेषताएं, ५. वैदिक …ादर्श, ६. संसार की समस्त समस्याओं का हल : वेद … वेद का ईश्वर, ९. योगेश्वर श्री कृष्ण आदि …ं ।

… ट्रैक्ट भारी संख्या में बांटें ।

… आर्य कम-से-कम ५ मित्रों को भेंट

… पहुँचाएं ।

… नें ।

… न के

घ…

वर्ष ७ : अंक ४
भाद्रपद सम्वत् २०३२
अगस्त १९७५

इस विश्वास के साथ कि कोई तो सुनेगा
मेरी पुकार,   —भारतेन्द्र नाथ

क्या श्रावणी पर भी सोते रहोगे ?

आर्य समाजों के अधिकारियों से, आर्य जनता से हमारा आग्रह है कि वे श्रावणी पर जागें और २१ अगस्त से ३० अगस्त तक पूरे बल से अपने-अपने क्षेत्र में वेद-प्रचार सप्ताह मनाएं !

सप्ताह-भर प्रभावशाली यज्ञ का आयोजन श्रद्धा सहित सप्ताह भर प्रातः
...ल किए जाएं ।

...—१. वेद ही ईश्वरीय ज्ञान क्यों ? २. वेद का मार्ग, ३. सब
... का मूल : वेद, ४. वेद धर्म की विशेषताएं, ५. वैदिक
...दर्श, ६. संसार की समस्त समस्याओं का हल : वेद
... वेद का ईश्वर, ९. योगेश्वर श्री कृष्ण आदि
... ।

... ट्रैक्ट भारी संख्या में बांटें ।

... आर्य कम-से-कम ५ मित्रों को भेंट

... पहुँचाएं ।

...नें ।

...न के

ध

दयानन्द संस्थान
नई दिल्ली का प्रकाशन

जन - ज्ञान

(मासिक)

सम्पादक
राकेशरानी

सह संपादक
सुमेधा स्नातिका
दूरभाष : ५६६६३६

पता
१५६७, हरध्यानसिंह मार्ग
[निकट ३१-नाईवाला]
करौल बाग, नई दिल्ली-५

वार्षिक मूल्य १५)
विदेश में ३ पौंड
(हवाई डाक से)
२ पौंड : समुद्री डाक से
(आजीवन-२५१)

वर्ष ७ : अंक ४
भाद्रपद सम्वत् २०३२
अगस्त १९७५

सुनेगा कौन ?

मन की बात सुनने और समझने वाला भी तो कोई नहीं, फिर किसे कहूं मैं—

नील गगन के पार जीवन के गीत शून्य में थिरकते हैं। सध्या की छाया हो या उषा की लाली सब में झंकृतियाँ गूंजती हैं। उन का आवाह्न दिशाओं को पुलकित करता गूंज रहा है पर उसे सुनेगा कौन ?

स्थिरता में जीवन मान कर मृत्यु की ओर बढ़ना बुद्धिमत्ता नहीं है। आशा में मुस्कराना और निराशा में रोना शौर्य नहीं है। साधना का बल तो शैल शृंगों को झुका देने की शक्ति रखता है।

आज भी जीवन कंपन-बंधन के चक्र में क्रन्दन के पथ का राही है। किन्तु नहीं, यह स्थिति तो बदलनी ही होगी। बदलेगा कौन, प्रश्न केवल इतना है।

वर्तमान को सुखद और भविष्य को स्वर्णिम बनाने के लिए जो ज्योति चाहिए वह हमारे पास है। परमात्मा ने हमें वह थाती सौंपी है जो मृत्यु को जीवन में, भटकन को स्थिरता में और क्रंदन को शांति में परिवर्तित करने की सामर्थ्य रखती है।

मैं इस अंधड़ में अडिग ज्ञान-ज्योति का पुंज हाथों में थामे एकाकी खड़ा हूँ इस विश्वास के साथ कि कोई तो सुनेगा मेरी पुकार,

—भारतेन्द्र नाथ

श्रावणी पर

"सत्यार्थ प्रकाश"

न्यूज़ प्रिंट पर = २००) सैकड़ा
बढ़िया सफेद कागज़ पर = २५०) सैं०

१—यह मूल्य केवल १५ अगस्त १९७५ तक रहेगा।
२—१०० प्रति से कम इस रेट पर नहीं देंगे।
३—धन पूरा अग्रिम भेजना होगा।

घर-घर में सत्यार्थ प्रकाश पहुंचाने के लिए क्या आप जागेंगे ?

ऋषि दयानन्द पर श्रद्धा हो तो अधिक से अधिक सत्यार्थ प्रकाश बाँटिए।

दयानन्द संस्थान नई दिल्ली-५

आर्य समाज का कार्य

(कविता कामिनीकान्त स्व० श्री पं० नाथूरामशंकर शर्मा)

卐

यह प्यारा आर्य समाज सभी को भाया।
समझो समाज ने क्या-क्या कर दिखलाया।।

बहु आर्य बने परमेश्वर के अनुरागी।
जड़ता तम की जननी जड़ पूजा भागी।।
बढ़ गई मेल की बेल, एकता जागी।
फट गया फूट का पेट, अविद्या भागी।।
उपजा विवेक, मिट गई मोह की माया।
समझो समाज ने क्या-क्या कर दिखलाया।।१।।

कट गये कँटीले कपट जाल के फन्दे।
खुल गये लोभ लीला के गोरख धन्धे।।
भ्रम सागर में गिर गये गपोड़े गन्दे।
परमार्थ को समझे स्वारथ के बन्दे।।
विपरीत मतों का घोर घमण्ड घटाया।
समझो समाज ने क्या-क्या कर दिखलाया।।२।।

सब देशों में वैदिक उपदेश प्रचारे।
पूजे सत गुरु पितु मात, मूढ़ फटकारे।।
कर दिये दूर मत मन्द प्रमादी सारे।
पाखंड खंड कर दिये हठीले हारे।।
भारत भर में सुख मूल सुधार समाया।
समझो समाज ने क्या-क्या कर दिखलाया।।३।।

फल खाते हैं लाखों मल खाने वाले।
पय पीते हैं वारुणी उड़ाने वाले।।
बन गये जती चकलों में जाने वाले।
छूटे छल बल से पाप कमाने वाले।।
शुभ समाचार का शंख निशंक बजाया।
समझो समाज ने क्या-क्या कर दिखलाया।।४।।

सम्पादकीय

धर्म की रक्षा के लिए

सर्वस्व समर्पण का समय !

धर्म और अधर्म का युद्ध सदा से होता आया है। कभी धर्म जीतता है, कभी अधर्म उभरता है किन्तु अन्त में सदा जीत 'धर्म' की ही होती है।

आज भी धर्म और अधर्म में संघर्ष हो रहा है और दुर्भाग्य से अधर्म का पक्ष प्रबल पड़ रहा है। चारों ओर निराशा है। सभी सोच रहे हैं कि अधर्म ही कल्याण कर सकता है।

परन्तु क्या हम और आप भी इस चिन्तन में बह जायेंगे ? क्या हमारा मन भी अधर्म के आगे हथियार डाल देगा। झूठ, बेईमानी भ्रष्टाचार और स्वार्थ क्या इसी तरह इठलाते रहेंगे ? क्या जीवन के मधुमय प्रहरों पर इसी तरह अनाचार प्रहार करता रहेगा।

जन सेवा के नाम पर निर्धन का शोषण, अहिंसा के नाम पर निरीह पशु-हत्या, गांधी के नाम पर शराब के जाम, क्या इसी तरह चलते रहेंगे ? सेवा के नाम पर घर भरने की प्रवृत्ति और नारे लगाकर जनता को गुमराह करने का षड्यन्त्र पनपता रहेगा ?

५५ करोड़ का देश, अनाथ, निराश, हताश होकर जीवित नहीं रह सकता। स्वतंत्रता धर्म के बिना फलदायी नहीं हो सकती। इसलिए आज पूर्ण बल से धर्म की रक्षा के लिए आवाज लगाने का समय आ गया है।

जीवन थोड़ा है, समय कम है. इसलिए जो कुछ भी करना है वह अभी करना होगा। प्रत्येक भारत-भक्त को आज धर्म रक्षा के इस पवित्र यज्ञ में अपनी-अपनी आहुति देकर धर्म — ध्वजा फहराने का व्रत लेना होगा। सबसे पहले अपने को, अपने परिवार को, अपने मन को, मस्तिष्क को बदलना होगा।

श्रावणी रक्षा बंधन संकल्पों का पर्व है। यह दिन है व्रत ग्रहण का। क्या हमारे भाई इस दिन अपने जीवन में से अधर्म को निकाल फेंकने का व्रतलेंगे ?

क्या अपने घर में हम धर्म को स्थापित करेंगे। सोच लीजिए अपना कर्त्तव्य···विचारिए और अपना मार्ग देखिए—निर्णय कीजिए कि आप धर्म की स्थापना के लिए क्या कर सकते हैं ?

सब कुछ आपके निर्णय पर ही निर्भर है। —राकेश रानी

आर्य समाज शताब्दी पर
८ प्रकार के
सत्यार्थप्रकाश

दयानन्द संस्थान भेंट करता है

१-सत्यार्थ प्रकाश-मोटा आर्ट पेपर पर मूल्य १०१)
३१ जुलाई तक ६०)

२-सत्यार्थ प्रकाश सुनहरी जिल्द वेद साइज में
मूल्य ५१)
३१ जुलायी तक ३१)

३ सत्यार्थ प्रकाश—उपहार संस्करण कपड़े की जिल्द मूल्य ८)। ५००)सै०

४ सत्यार्थ प्रकाश—राज संस्करण सजिल्द--- मूल्य६)। ४००) सैकड़ा

५ सत्यार्थ प्रकाश—अजिल्द बढ़िया कागज— ३२५)सैकड़ा

६ सत्यार्थ प्रकाश शताब्दी संस्करण वढ़िया कागज पर ३००) सैकड़ा

७ सत्यार्थ प्रकाश—अंग्रेजी में— मूल्य १५)

८ सत्यार्थ प्रकाश " " साधारण कागज पर २५०) सैकड़ा

मंगाएं : बाँटें : घर-घर पहुंचाएँ

दयानन्द संस्थान नई दिल्ली-५

मैं हृदय मन्दिर से लिख रहा हूँ

परम धर्म हमारा,
क्या साधारण धर्म भी रह गया ?

हम प्रतिवर्ष वेद प्रचार सप्ताह मनाते रहे, वैदिक धर्म की जय बोलते रहे, वेद के गीत गाते रहे, पर क्या हमने वेद के लिए कुछ किया ?

यह प्रश्न है जो शताब्दी वर्ष में हमारे मानस में उमड़ रहा है। हम सोच रहे हैं कि यह कैसी छलना है कि 'वेद' के प्रचार के लिए करोड़ों रुपया व्यय करने के बाद भी हम 'वेद' के लिए कुछ न कर सके। घोषणाएँ करना और बात है, नारे लगाना बहुत आसान है पर उन्हीं घोषणाओं को व्यवहार में लाना उतना ही कठिन है।

पिछले सौ वर्ष की लम्बी अवधि में ऋषि के स्वप्न अधूरे रहे। उनकी निर्दिष्ट दिशा में अंधकार छाया रहा और हम ऋषि के नाम पर मनमानी करते रहे।

और आज भी दयानन्द के उत्तराधिकारी जलसे-जलूस-भाषण प्रदर्शन की कला में जितने निष्णात हैं उतने ही "वेद-प्रचार" से दूर। हमारे मन की अग्नि बुझी हुई है। हमारी कामनाएँ सोयी पड़ी हैं। हम नहीं जानते कि इस तरह से कैसे लक्ष्य तक पहुँचा जा सकेगा ?

हम आज भी जब चारों ओर दृष्टि घुमाते हैं तो हमें लगता है कि वेद प्रसारक संस्थान आर्यसमाज संगठन में और सब के लिए साधन हैं, उत्साह हैं, यदि नहीं है तो केवल 'वेद' के लिए।

ऋषि दयानन्द ने 'वेद' को विशाल मानव जाति की एकता का आधार बताया था। उनकी दृष्टि में 'वेद' द्वारा ही हमारी सारी उलझनें सुलझ सकती थीं। उन्होंने भारत के सबल संगठन का सार 'वेद' में निहित देखा था। वह सबकुछ छोड़ सकते थे पर 'वेद' को नहीं।

उन के अनुयायियों ने 'वेद' की उपेक्षा कर जो गंभीरतम अपराध किया आज उस के प्रायश्चित का समय आ गया है। अब भी इस शताब्दी वर्ष में २१ अगस्त को फिर श्रावणी वेद प्रचार सप्ताह आरंभ होगा। सभी कथाएँ करवा कर अपने कर्तव्य की पूर्ति मान लेंगे ? पर क्या यह पर्याप्त है ?

क्या कुछ नए पग आर्यसमाजें नहीं उठा सकतीं, क्या घर-घर में 'वेद'

पहुंचाने की उमंग उनके मन में उत्साह नहीं भर सकती ? क्या नए युग की आधारशिला वेद के आधार पर रखने का व्रत आर्य पुरुष नहीं ले सकते ?

हमारे इन प्रश्नों को पढ़कर टाल देना सरल है पर युग के प्रभाव में चट्टान बनकर खड़े रहने का साहस संजोना तो आसान नहीं। मृत्यु को मार कर विजय के गीत गाना तो प्रत्येक के बस की बात नहीं।

इस वर्ष में भी यदि हम 'वेद' का सबल शंखनाद न कर सकें तो फिर क्या अपने को ऋषि दयानन्द का उत्तराधिकारी कह सकेंगे ?

—हम चाहते हैं कि प्रत्येक परिवार में 'वेद' पहुँचे।

—प्रत्येक घर में वेद-मंदिर बने।

—प्रत्येक व्यक्ति 'वेद' को अपना धर्मग्रंथ माने।

—हमारे जीवन का आधार 'वेद' हो।

—'वेद' के भावों को हम जीवन में ढालें।

इन पाँच बातों को जिस दिन आर्यसमाज अपना लक्ष्य बना लेगा। जिस दिन उस का सारा बल-धन 'वेद' के लिए होगा, उस दिन वर्तमान आर्यसमाज ऋषि दयानन्द का आर्यसमाज कहला सकेगा। हम जानते हैं अनार्यों ने आर्यत्व के आवरण में आर्यसमाज को बदल दिया है। पद के लोभी स्वार्थ के पुतले आर्यसमाजों के अधिकारी बन कर उन्हें अपनी जागीर समझ रहे हैं। भ्रष्टता इतनी बढ़ी है कि लक्ष्य विस्मृत हो चुका है।

कंपन—निराशा—आलस्य और मोह की मदिरा का प्रभाव सब कुछ नष्ट कर चुका है। हमारे जैसे मूर्ख (?) लोग उन्हें शत्रु प्रतीत होते हैं। सत्य कड़वा होता है, इस लिए वह किसे भाता है। फिर भी हम उन्हें संबोधित कर रहे हैं जिन में 'वेद' के प्रति भक्ति और ऋषि के प्रति आदर है।

हमारा आवाहन है १९७५ का वेद प्रचार सप्ताह धूम-धाम से मनाओ ! घर-घर में 'वेद' का संदेश पहुँचाओ। 'वेद' का, नाम, वेद के दर्शन, स्वाध्याय और प्रवचनों से चारों दिशाएं गुंजा दो।

गुंजाओ परमात्मा की वाणी प्रभु पुत्रो। उठो और 'वेद' का प्रकाश फैलाकर अंधकार दूर करो। अपना सब कुछ वेद के लिए अर्पित कर दो। 'वेद' ही धर्म है। धर्म ही 'वेद' है। प्रभु की अमरवाणी के स्वरों के श्रवण हेतु मानव उत्सुक है।

ज्ञान-सत्य-दीप-प्राण-स्नेह-शक्ति सभी एक स्वर में आप के जागरण की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आकाश का निर्झर 'वेद' के स्वरों की रागिनी सुनने को तरस रहा है। कहाँ हो, हे आर्यपुत्र ! तुम कहाँ सो रहे, आओ—समय—भविष्य तुम्हें बुला रहा है।

डरना-झुकना-पीछे हटना हमने नहीं सीखा ! !

समय के प्रवाह को रोकने के लिए हमारा अभियान चल रहा है। साधनों के अभाव में भी हम धर्म ध्वजा लहराने के लिए कृत संकल्प हैं। इतिहास में पहली बार महर्षि के दिव्य स्वप्न 'वेद' का नाद गुंजाने का सफल प्रयास हम कर रहे हैं।

हमारे संपूर्ण कार्य केवल देव दयानन्द के प्रति अर्पित हैं। सोते-जागते उठते-बैठते, खाते-पीते, हमने केवल ऋषि के सपनों को मूर्त रूप देने का चिन्तन किया है। सत्यार्थ प्रकाश ऋषि जीवन और छोटे-बड़े १५० के लगभग ग्रन्थ आर्यसमाज शताब्दी पर प्रकाशित कर हमने कर्तव्य पथ पर बढ़ने का प्रयास किया है।

हमारे काम में कमियाँ हो सकती हैं पर हमारे लक्ष्य में कोई त्रुटि होनी संभव नहीं। हमारा मन-वचन और कर्म महर्षि के प्रति श्रद्धानत है। हमने उन्हें गुरू माना है और अपना सब कुछ उनके लिए अर्पित किया है।

दिन-रात आर्यसमाज का कार्य करने पर भी आर्यसमाज के कर्णधारों ने जितनी गालियाँ हमें दी हैं, जितना अपमान हमारा किया है, जितने आरोप हम पर लगाए हैं, जितना योजनाबद्ध प्रचार हमारे विरुद्ध हुआ है उतना प्रचार पिछले १०० वर्षों में संभवतः और किसी के विरुद्ध न हुआ हो।

आर्यसमाज के वे ठेकेदार जो गद्दियों के लिए दिन-रात लड़ते हैं, हमारे कार्य को देखकर बौखला उठे हैं। जबकि हम बिना किसी पद का मोह किए केवल प्रचार की दृष्टि से कार्य में लगे हैं। फिर भी कुछ तथाकथित नेता नामधारी व्यक्ति अपने जीवन का लक्ष्य हमें मिटाना ही बना चुके हैं।

कभी-कभी तो वस्तुतः ऐसा अनुभव होता है कि इस धरती पर काम करना ही शायद सबसे बड़ा अपराध है। हम बहुत खोजने पर भी यह नहीं जान पाए कि आखिर हमारा अपराध क्या है ?

हम आर्य जनता के न्यायालय में खड़े होकर यह पूछने का साहस कर रहे हैं कि क्या आज सब बातों के अर्थ बदल गए हैं? ऋषि दयानन्द का स्पष्ट अपमान करने वाले आर्यसमाज के कर्णधार हैं और ऋषि के दिन-रात गीत गाने वालों को आर्यसमाज का शत्रु बताया जा रहा है—

इन तथा कथित स्वयभू आर्य नेताओं की कृपा से आज देश में विदेशी ईसाई षडयन्त्र सफल हो रहे हैं ? चारों ओर पाखंड फैल रहा है, अधर्म का राज्य सर्वत्र हो चुका है और पाप अट्टहास कर रहे हैं।

हमारा इनसे सीधा प्रश्न है कि इन सब को रोकने के लिए आपने क्या किया ? शताब्दी पर धन संग्रह की अपीलें निकालने के अतिरिक्त और क्या किया आपने ? आप सारे संसार को आर्य बनाना चाहते हैं पर बताइए, रूस-चीन-पाकिस्तान आदि सभी विदेशों में वेद का संदेश पहुँचाने के लिए, धरती के हर कोने में 'वेद' पताका लहराने के लिए आप क्या कर रहे हैं ?

संस्थाएँ आपने नष्ट कर दीं, गुरुकुल कांगड़ी का भव्य रूप आपने विनष्ट कर दिया। वेद विरोधी व्यक्तियों को सिर पर बिठाकर आपने आर्यसमाज की जड़ें काटी हैं, और काट रहे हैं।

हमारा निश्चित विश्वास है कि आर्यसमाज की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा वे भाषण शूर नेता हैं, जिनकी कथनी और करनी में जमीन आसमान का अंतर है।

इन्होंने अपने स्वार्थों की भेंट शताब्दी का पावन पर्व भी चढ़ा दिया। बस भगवान ही इन्हें बुद्धि दे तो दे, किसी व्यक्ति के बस की बात नहीं कि इन्हें सुधार सके।

हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि किसी भी धमकी या विरोधी प्रचार के समक्ष हम नहीं झुकेंगे। हमारे सामने अपने गुरू महर्षि दयानन्द का जीवन आदर्श है। कितनी गालियाँ उन्हें मिलीं, कितना अपमान उन्होंने सहा, कितनी बार उन्हें विष दिया गया। उनकी तुलना में हमारी क्या गणना ? संभवत: प्रभु की वाणी के प्रचारकों को यह सब सहना ही पड़ता है। हम भी सह रहे हैं। हमारे मन में किसी के भी प्रति न द्वेष है, न क्रोध। प्रभु से प्रार्थना है ऐसे व्यक्तियों को सद्बुद्धि प्रदान करे. हम केवल यह कहना चाहते हैं कि यह बड़े-बड़े सगठन अपनी पूरी शक्ति से वेद-धर्म का प्रचार करें। धन तिजोरियों में भरने के स्थान पर उसे प्रचार कार्यों में व्यय करें। पूरा समय कार्य के लिए देने वाले व्यक्ति अधिकारी बनें।

हमारी यह चाह आर्यसमाज के सर्वोपरि हित की दृष्टि से है। हमने जो कुछ भी किया या करेंगे ऋषि के लक्ष्य और वैदिक सिद्धान्तों की रक्षा के लिए करेंगे।

हमने क्रांति का बिगुल बजाया है परमात्मा के भरोसे। वेद के प्रचार का

संकल्प भी लिया है उसी के विश्वास पर हमारा आग्रह है कि जो साथ न दे सकें न दें। पर मार्ग में दीवार बन कर तो न आएँ।

फिर भी जो विघ्न डाल रहे हैं या डालेंगे हम उनका स्वागत करते हैं। वे हमारे सच्चे मित्र हैं। हमें सावधान रखते हैं। प्रभु का वरद हस्त जब तक हमारे ऊपर है तब तक कौन ऐसा है जो हमें मार सके, हानि पहुँचा सके।

ऋषि दयानन्द की जय !
वैदिक धर्म की जय !
सत्य-न्याय-ज्ञान की जय !

हम बोलेंगे—कर्म से—पाप-अज्ञान-अंधकार मिटाएंगे और बढ़ते हुए जो हमारी राह में आएगा उसे हम हटाएंगे—प्यार से भी और साधना से भी।

पथ से हटना या डिगना कोई 'आर्य' स्वीकार न करेगा। मृत्यु वरण शुभ—पथ भ्रष्टता अशुभ—यह बात सब भली भांति जान-समझ लें।

वेद मन्दिर का निर्माण

राजधानी में विशाल वेद मंदिर की स्थापना का आरंभ हो चुका है। ६०० वर्ग गज भूमि में २०० पेड़ लग चुके हैं। २ कमरे भी बन चुके हैं। कच्ची सड़कें भी तैयार हैं और यज्ञ वेदी का चबूतरा भी तैयार है।

यह वेद मंदिर प्रदर्शन के लिए नहीं वेद के प्रचार के लिए होगा। संसार की सभी प्रमुख भाषाओं में वेद भाष्य का प्रकाशन, वेद की विभिन्न दृष्टि से व्याख्याएं और नाना विषयों पर खोजपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन इसका प्रथम लक्ष्य होगा।

वेद-प्रचारक तैयार कर सर्वत्र-वेद पताका फहराना भी वेद-मंदिर का एक अंग रहेगा। हम बातों में नहीं कार्यों में विश्वास रखते हैं। योजनाएं हमें नहीं भातीं, हम चाहते हैं आगे बढ़ना, कुछ करना !

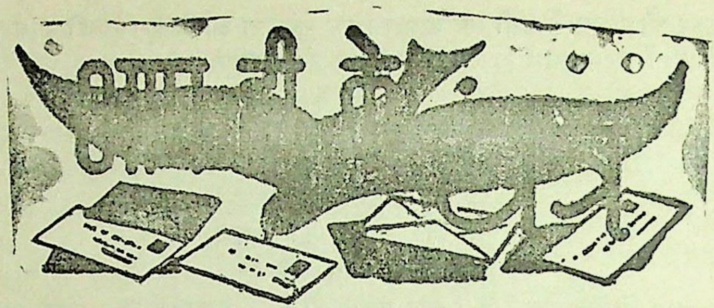
प्रत्येक क्षेत्र में प्रचार करो !

दुर्भाग्य वश आज हमारे नेता प्रचार की प्रेरणा करने के स्थान पर व्यवधान उत्पन्न करने का अपराध कर रहे हैं।

सार्वदेशिक सभा के महामंत्री ने अपने एक वक्तव्य में फिर स्थानीय प्रचार रोककर बम्बई के लिए धन भेजने की अपील कर रहे हैं।

हमें समझ नहीं आता कि क्या बम्बई में इतने गरीब लोग रहते हैं कि वे बम्बई शताब्दी समारोह का व्यय भार भी नहीं उठा सकते।

हम अपने महामंत्री के इस दुर्भाग्यपूर्ण वक्तव्य की भर्त्सना करते हैं। और देश की आर्य जनता से, आर्य समाजों से आग्रह करते हैं कि वे अपने-क्षेत्र में पूरे बल से प्रचार कार्य करें। सारा धन अपने आस पास प्रचार में लगाएं। इसी से आर्यसमाज संदेश गूँज सकता है। —भारतेन्द्र



श्री लाला रामगोपाल जी प्रधान सार्वदेशिक सभा के नाम खुला पत्र

रजिस्टर्ड

सेवा में,

मान्नीय श्री रामगोपाल जी,
प्रधान सार्वदेशिक सभा,
रामलीला मैदान नई दिल्ली-१

मान्यवर ! सादर नमस्ते !

मैं पहले भी २-३ पत्रों द्वारा आपसे "सायण तथा दयानन्द के वेदभाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन" नाम पुस्तक को रद्द करने की प्रार्थना कर चुका हूँ। किन्तु खेद है कि आपने इस ओर ध्यान नहीं दिया।

६ जुलाई १९७५ को आदरणीय प्रो० रतनसिंह जी ने भी आपसे मिलकर आग्रह किया था कि आप इस पुस्तक को रद्द कर दें ! आपने उनसे यह तो स्वीकार किया कि "पुस्तक वस्तुतः आपत्तिजनक है किन्तु अब जिद्द पड़ गयी है इसलिए अब आप उसका पक्ष ले रहे हैं।"

श्री प्रधान जी !

न्याय के उच्चासन पर बैठकर पक्षपात स्वयं समाप्त हो जाता है ! किन्तु आप आर्यसमाज के सर्वोच्च पद पर बैठकर असत्य का ग्रहण कर पक्षपात कर रहे हैं ! क्या यह शोभनीय है ?

आपने प्रो० रत्नसिहजी से यह भी कहा कि आपने हमारे विरुद्ध बहुत-सी सामग्री संगह कर ली है और इसे छापकर आप सर्वत्र भेजेंगे और हमें बरबाद कर देंगे।

मान्यवर,

मुझे इसमें कुछ भी आपत्ति नहीं, आपको जो भी हमारे विरुद्ध छापना या प्रचार करना हो, करें। हम कभी शिकायत न करेंगे। क्योंकि हमारे समक्ष तो वेद-ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तोंके प्रचार का महान् कार्य है। आपसे भी हमारा केवल यही आग्रह है कि इतनी कृपा अवश्य करें कि जिस महान् महर्षि की जय शब्दों में बोलते हैं—

उस देव तुल्य ऋषि दयानन्द का अपमान करने वाले निन्दनीय ग्रन्थ "सायण तथा दयानन्द के वेद भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन" नामक ग्रंथ को तुरन्त रद्द करें। आर्यसमाज के १४ उच्चकोटि के विद्वान पुस्तक को आपत्ति-जनक घोषित कर चुके हैं।

आर्यसमाज शताब्दी वर्ष में यह ग्रंथ आर्यसमाज के सर्वोच्च संगठन ने क्यों छापा ? इसके पीछे क्या रहस्य है यह तो आप ही जानें किन्तु अत्यन्त नम्रता-पूर्वक मेरा कथन है कि कोई भी सच्चा ऋषि भक्त यह अपमान नहीं सहेगा। आप भी नहीं सहेंगे, यह विश्वास है। और अनेक व्यक्तियों के समक्ष इस पुस्तक को आप भी आपत्तिजनक मान चुके हैं।

आपको तो आर्य जनता ऋषि दयानन्द का भक्त समझती थी फिर सायण के प्रति आपका पक्षपात क्यों ? ऋषि के गौरव की रक्षा की माँग करने पर आपको क्या आपत्ति ?

आप व्यक्तिगत रूप से भले ही हमारे विरुद्ध कितना ही प्रचार करें, आप के व्यक्तित्व के विरुद्ध हम कभी कुछ न कहेंगे, न कहा है। आपके पत्र में हमारे विरुद्ध अनेकों अनर्गल लेख निकले हैं, आपके कार्यालय में हमारे विरुद्ध घृणित प्रचार निरन्तर होता है, पर हम आपका आदर करते हैं! करते रहेंगे। आपके विरुद्ध हमने व्यक्तिगत कुछ भी नहीं लिखा! न उन लेखों का उत्तर दिया! हमारा मतभेद सैद्धान्तिक है न कि आप से या सभा से आप भी इसी रूप में लेते तो उत्तम था!

बस केवल गुरूदेव दयानन्द का अपमान सहन नहीं होगा! आप भी न सहें, यह हमारी इच्छा है—काश कि आप सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग कर न्याय कर सकते—

उत्तर की आशा में

विश्वास के साथ
आपका
(भारतेन्द्रनाथ)

ऋषि दयानन्द के वेद भाष्य की छाती में छुरियाँ

सुप्रसिद्ध आर्य विद्वान पं० बिहारीलाल शास्त्री का पत्र

प्रिय भारतेन्द्रनाथजी सप्रेम नमस्ते।

श्रावण के जनज्ञान में दी हुई विमला जैन की पंक्तियों को पढ़ा। ऋषि दयानन्द के भाष्य की छाती में ये छुरियाँ मारी गयी हैं और शास्त्र ज्ञान शून्य हमारे नेता उसकी प्रशंसा के पुल बांध रहे हैं और आर्यजगत चुप है। १४ विद्वान क्या चौदह सौ विद्वान भी विरोध करें तो कुछ नहीं हो सकता। आर्य समाज में अब सिद्धान्त प्रेमियों की भारी कमी है। स्वार्थी, बेपढ़े, चालाक लोग पार्टीबाजी और गुटबन्दियों से गद्दियों पर जा बैठे हैं। विद्वान सर पीटते रहें।

एक समय था कि पं० भीमसैन, पं० अखिलानन्द, राजा साहब पुवायां, स्वा० सत्यानन्द तक को आर्य समाज से अलग करा दिया गया था पर अब:—

जिन दिन देखे वे सुमन, गयी सो बीत बहार
अब अलि रही गुलाब में अपत कटीली डार

उन्होंने स्पष्टीकरण में लिखा है कि वह (विमला जैन का लेख) आर्यसमाज के मंच से दिया गया आर्य पंडित का भाषण तो है नहीं··· लेखक ने जैसा समझा वैसा लिखा ठीक है। हम भी लेखक को दोषी नहीं बता रहे हैं। वह जैसा चाहे वैसा लिख सकता है परन्तु सभा ने उसे प्रमाणित करके छापा और भूल हो भी गयी तो उसे सुधारने में क्या पाप है? पुस्तक को निरस्त करने की विज्ञप्ति कर दी जाये मगर खेद है कि उस भ्रष्ट पुस्तक का समर्थन कर रहे हैं। शास्त्र ज्ञान शून्य नेता! शोक! महाशोक!

आप सार्वदेशिक सभा की सामान्य मीटिंग में इस प्रश्न को उठवाइये।

ईश्वर इन नेताओं को बुद्धि दे। यह समाज में व्यर्थ का विरोध पैदा कर रहे हैं। आपका सिद्धान्त प्रेम प्रशंसनीय है। किसी को इतनी तड़प नहीं जितना आपको है। आशीर्वाद।

बरेली

भवदीय
बिहारीलाल शास्त्री

इन नेताओं को लज्जा नहीं!

मान्यवर !

मैं इस विषय में आपके साथ सहमत हूँ कि तथाकथित शिरोमणी आर्य संगठनों को राजनीतिक लोकप्रियता प्राप्त करने की अमिट लालसा है—वे संसद् सदस्यता लेने के लिए या अन्य स्वार्थों के लिए धर्म ध्वजी बने हुए हैं। इनकी पत्रिकाओं में, सभा मंचों पर इन्हें यह घोषित करने में लज्जा का अनुभव नहीं होता कि जिस महात्मा ने रामलीला आदि का स्वांग निकालना ऐसा बुरा माना था कि जैसे किसी के माता पिता की उनके पुत्रों के सामने ही नकल उतारना। आज उस वीतराग पाखण्ड विरोधी सत्य सन्ध दयानन्द की डाकुमैण्टरी निकालने के लिए सरकार का जय घोष किया जाता है। जिस ग्रन्थ में सायण को तो बार बार आचार्य और वेद मार्ग प्रदर्शक कहा गया है और दयानन्द के नाम के साथ 'श्री' शब्द लगाना भी उचित नहीं समझा, जिसमें सायण के भाष्य को उत्तम तथा निर्दोष अप्रत्यक्ष रूप से इसलिए सिद्ध कर दिया गया है कि सायण के अर्थ तत्कालीन वातावरण के अनुसार किए गए हैं। यद्यपि यह बात भी सर्वथा गलत है। और जिस दयानन्द के सरल और गम्भीर भाष्य को बुद्धि ग्राह्य' नहीं माना गया—उस निन्दनीय और दोषपूर्ण पुस्तक को प्रकाशित करने में कुछ ग्लानि इन्हें नहीं हुई। क्या ये नेता दयानन्द के स्वप्नों को साकार करेंगे ?......

यह हाल तो रक्षकों का है, तो विध्वसंक किन्हें कहा जाए? दयानन्द आर्य समाज की आत्मा है। उसके बिना यह समाज निष्प्राण है—ऐसा मैं मानता हूँ।

......मैं सायण और दयानन्द के भाष्यों के तुलनात्मक अध्ययन' की लेखिका से या उनके समर्थकों से शास्त्रार्थ के लिए भी औचित्य मानता हूँ।

फरीदाबाद— —डा० परमानन्द एम० ए० पी० एच० डी०
भूतपूर्व निर्देशक भाषा विभाग
पंजाब व हरियाणा सरकार

निराशा में आशा

प्रिय भारतेन्द्रनाथ जी,

आपका भेजा हुआ जनज्ञान मिल गया। मई १९७५ का सम्पादकीय लेख, क्या आज भी प्रमाण चाहिए' व मैं हृदय मंदिर से लिख रहा हूं, ये दोनों पढ़कर प्रसन्नता हुई। मैं निराश हो चुका था, आर्य समाज की हालत देख किन्तु आपके लेख व श्री महात्मा आनन्द स्वामी की प्रेरणा से पुनः उत्साहित हो गया। अब मैं हृदय से ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों का प्रचार कर रहा हूँ।

बल्हारपुर (महाराष्ट्र) —गंगा प्रसाद आर्य

प्यारी बहन राकेशरानी जी !

'जन ज्ञान' आर्यसमाज के सब पत्रों में उत्कृष्ट, आकर्षक सर्वप्रिय और प्रभावी पत्र है। जितनी सेवा अकेला 'जन-ज्ञान' और दयानन्द संस्थान कर रहा है, इतनी आर्यसमाज की सब सभाएं मिलकर भी नहीं कर रहीं।

आपके और भाई भारतेन्द्रनाथ जी के लेख आत्मप्रेरणा के अमरगीत होते हैं। जबसे 'जनज्ञान' का शुभ संचालन हुआ है, आप दोनों के मुख्य-मुख्य लेखों की मैंने 'आर्योदय' नाम से फाईल बनाकर उन्हें संग्रह किया है, जिसके दैनिक स्वाध्याय से नई प्रेरणा, नवचेतना और नया उत्साह मिलता है।

'जनज्ञान' के घर आने मात्र से घर में एक खुशी और उल्लास की लहर सी दौड़ जाती है। और बार-बार पढ़ने पर भी मन नहीं भरता। सारा घर इसे अपनी पाठ्य पूजा पुस्तक समझकर पढ़ता है।

मैं बहन आज्ञावती के साथ स्त्री आर्यसमाज और शक्तिनगर आर्यसमाज के दैनिक सत्संगों की सेवा निष्ठा कार्यकर्ती हूँ। आपकी जीवन साधना से दयानन्द संस्थान दिल्ली की तीर्थयात्रा करने और भविष्य का कुछ समय आपके साथ सेवा साधना में लगाने का संकल्प जागा है।

भगवान आप दोनों का स्वास्थ्य सकुशल मंगलमय बनाये रखे, ताकि आप महर्षि के स्वप्नों को सार्थक सिद्ध कर सकें। सुपुत्री 'ज्योत्स्ना' की विदाई की बधाई। वीरपुत्र 'धर्मवीर' का लेख एक उज्ज्वल भविष्य का स्वर्णिम प्रतीक था। बढ़े चलो, प्रभु के मार्ग पर, वह ही हमारा परम सहायक है।

आपकी आर्य बहन
—कमलावती आर्य

स्वामी जगदीश्वरानन्द : विदेश यात्रा की महत्ता

श्री पं० भारतेन्द्रनाथ जी एवं बहन राकेशरानी......

पिछले ६ महीने से आर्यसमाज शताब्दी समारोह सुरिनाम में जोरों से चलता रहेगा। स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती ६ अप्रैल को यहाँ (पारामारिवो) आने से सर्वत्र आर्यसमाज का महत्व बढ़ रहा है। स्वामी जी की वेद प्रचार समिति बनी है, जिसका मंत्री मैं नियुक्त हुआ हूँ।

प्रचार प्रोग्राम ओ३म् के झण्डे तथा अन्य छपाई का कार्य हमारे सरस्वती प्रेस में मुफ्त हो रहा है। गैर-हिन्दुस्तानियों को महर्षि दयानन्द और उनके कार्य का परिचय देने के लिए—हजारों की संख्या में १२ पुस्तक प्रकाशित की गई हैं। जिसे निःशुल्क वितरित किया गया है।

पारामारिवो (सुरीनाम) —पं० आर शिवरतन

हृदय गद् गद् हो गया

महोदय, आर्यसमाज शताब्दी अंक देखकर तथा पढ़कर हृदय गद् गद् हो गया। विशेषकर उसके खोजपूर्ण लेखों के संग्रह को सेर तथा उसमें पूज्य पिताजी श्री पं० पद्मसिंह शर्मा के लेख को पाकर मेरी भी उसे मंगाने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई।

—रामनाथ शर्मा

नायक नगला जि० बिजनौर

एकलिंग मन्दिर के महन्त बन जायं

उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंहजी ने एक दिन एकाँत में अत्यन्त विनम्र भाव से महर्षि दयानन्द से निवेदन किया कि राजनीति के सिद्धांत के अनुसार आपको मूर्ति-पूजा का खण्डन न करना चाहिए। यह तो आप जानते हैं कि यह राज्य एकलिंग महादेव के अधीन है। आप एकलिंग मन्दिर के महन्त बन जायं। कई लाख रुपये पर आपका अधिकार हो जायेगा और एक अर्थ में यह राज्य भी आपके अधीन रहेगा—महाराज ने पूरी शान्ति तथा गम्भीरता से इसे सुना, परन्तु उन्हें आवेश-सा आ गया और कड़क कर बोले कि आप लोभ देकर मुझसे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की आज्ञा-भंग कराना चाहते हैं। यह छोटा सा राज्य और उसके मन्दिर, जिसमें से मैं एक दौड़ में बाहर जा सकता हूँ, मुझे कभी वेद और ईश्वर आज्ञा भंग कराने पर उतारू नहीं कर सकते, मैं कदापि ईश्वर को छोड़ या छिपा नहीं सकता। आगे से आप विचार कर बात करें। महाराणा यह सुन कर चकित रह गये और कहने लगे, कि मैं तो केवल देखना चाहता था कि आप कितने दृढ़ हैं।

विदेश से प्रचार विवरण

आदरणीय पं० भारतेन्द्रनाथजी, सप्रेम नमस्ते,

आपका पत्र मिला। धन्यवाद। लीजिए सूरिनाम के कुछ समाचार भेज रहा हूँ।

सूरिनाम एक सुन्दर टापू है। जिधर निकल जाएँ हरियाली ही हरियाली है। यहाँ नगर अथवा ग्राम की बसावट भारत जैसी नहीं है। प्रत्येक घर के साथ पर्याप्त भूमि है। जिसमें फलदार वृक्षों के साथ खेती होती है। घर में आम, केला, पपीता परसीना, मौसमी जैसा एक फल प्रायः लगे होते हैं वहीं खेती भी कर लते हैं।

ऋतु यहाँ का बहुत ही सुहाना है। सम्पूर्ण वर्ष में ऋतु नरम ही रहती है। न भयंकर गर्मी है और न ठिठुराने वाली शीत ही है। किसी भी ऋतु में बिना पंखे के कार्य चल जाता है। प्रायः १५ मई से १५ जुलाई तक वर्षा होती है। वर्षा जोर से होती है रिमझिम बारिश नहीं होती। वर्षा समाप्त होकर धूप निकलती है तो कड़ाके की। मच्छर खूब हैं। यहाँ के लोगों का पता नहीं मैं तो बिना मसहरी सो नहीं सकता।

यहां न गेहूँ पैदा होता है न जौ और चना, चावल यहाँ खूब पैदा होता है। चावल के बोने में यहाँ उन्नति भी खूब की है। भूमि को यहाँ ट्रैक्टर से तैयार किया जाता है फिर वायुयान के द्वारा बीज छिटकाया जाता है फिर बिना पौद के ही फसल तैयार हो जाती है। चावल यहाँ इतना होता है कि उसका निर्यात भी किया जाता है। परन्तु खाने में मुझे भारतीय बासमती चावल का स्वाद कहीं नहीं मिला। यहाँ दोनों समय चावल खाया जाता है दावत में भी चावल अवश्य होता है।

फलों में यहाँ बकुआ (केला) खूब होता है। केला नकली है असली फल बकुआ है। परन्तु आज नकली असली से आगे बढ़ गया है। यहाँ एक घटना देना अप्रासंगिक न होगी। सरमक्का में एक सज्जन श्री मदन जी ने अकेले ही एक लाख रुपये व्यय करके एक सुन्दर आर्यसमाज मन्दिर का निर्माण कराया है। इस मन्दिर का उद्घाटन था। प्रातः सायं मेरे भी दो प्रवचन थे।

सायं काल मेरे सामने दूध और फल (फल में केवल बकुआ-केला) लाकर रखे गये, तो मैंने उनका सेवन कर लिया। अभी समाप्त नहीं कर पाया था कि दो बहन बड़े-बड़े बकुये उन्होंने और लाकर रख दिये और कहने लगे कि ये आप अवश्य लें। यह यहाँ का असली बकुआ है। मैंने कहा—दोनों का खाना तो मेरे लिए असम्भव है परन्तु यह असली है अतः आधा खाकर अवश्य देखूँगा। आधा बकुआ खाकर मैंने कहा असली से नकली ज्यादा अच्छा था। इस प्रकार नकल बहुत आगे बढ़ गई है।

जिस समय मैं वायुयान द्वारा यहाँ आ रहा था तब सभी यात्रियों को एक अंग्रेजी पत्रिका Holland Herald दी गई। पत्रिका में एक पृष्ठ पर कुछ फल दिये हुए थे। वहां यह भी लिखा हुआ था कि कौनसे देशों का कौनसा फल प्रसिद्ध है अथवा सर्वश्रेष्ठ है। मैं पढ़कर चकित रह गया कि आम में भारत का नाम वहाँ नहीं दिया है। वहाँ भारत का काजू सर्वश्रेष्ठ बताया गया था और आम सूरिनाम का। आम यहां काफी होता है इसमें संदेह नहीं है परन्तु कहाँ भारत का आम और कहां सूरिनाम का आम। यहाँ के आम में रेशा या तूंतड़े बहुत होते हैं प्रायः प्रत्येक आम में। एक दिन एक आम ऐसा मिला कि उसमें (उस जाति के आम में) तूंतड़े नहीं थे, अन्यथा इन आमों को छुरी से काटना भी कठिन होता है और भारत के अलफंसो, दशहरी और चौंसा का मुकाबला कोई आम नहीं कर सकता।

केला, वस्तुतः बकुआ यहाँ लगभग एक किलो वजन तक का भी होता है। चीकू को यहाँ सपतिया कहते हैं, एक दिन एक सज्जन भेंट दे गये थे। २५०-२५० ग्राम का एक-एक होगा। हो सकता है भारत में कहीं होता हो मैंने इतना बड़ा चीकू भारत में नहीं देखा।

परसीना—मौसमी जैसा एक फल होता है। इसे छील कर बीच में से काट देते हैं दो प्यालियाँ सी बन जाती है, इन्हें आननू के साथ चूसते हैं। रस निकाल कर भी पीते हैं। वर्ष में हर समय उपलब्ध है।

सन्तरा भी होता है। चकोतरा भी पैदा होता है। कुछ फल यहाँ ऐसे भी देखे हैं जो भारत में नहीं मिलते।

एक फल यहां कटहल देखा। कटहल भारत में भी होता है परन्तु वहाँ केवल एक ही प्रकार का कटहल देखा था सब्जी वाला। यहाँ तीन प्रकार का कटहल देखा। एक सब्जी बनाने वाला, दूसरा वह होता है जिसे काटकर कच्चा ही खाते हैं, स्वाद तो क्या बताऊं परन्तु खाने में मजा आ गया। एक कटहल के बीजों को उबाल कर खाते हैं सिंघाड़े की भाँति।

सेव, मौसमी, नाक, अनार आदि यहाँ पैदा नहीं होते। आलू भी यहाँ पैदा नहीं होता। सब वस्तुएँ बाहर से मंगाते हैं।

शायद मैंने पहले पत्र में संकेत किया था यह देश महंगा बहुत है। प्रत्येक वस्तु महंगी है। सेब भारतीय ३) का एक, चीकू लगभग ६०-७० ग्राम का १) का, एक केला बढ़िया १) का आलू २) का आधाकिलो। सरसों का तेल भारत से मंगाते हैं ४०) किलो। घी ३२) किलो। भारत में पुस्तक का जितना दाम होता है यहाँ उतना ही दाम लेते हैं परन्तु दूसरे रूप में देखें तो भारत से चौगुना हो जाता है। यहाँ का एक रुपया भारत के चार रुपये के बराबर है। आटा १३) का ढाई किलो, चावल ३) किलो। कपड़ा साधारण जो भारत में ६) मीटर होगा वह यहाँ २५) मीटर होगा। एक कुर्ते की सिलाई २०)।

यहाँ नाइयों की दुकान, मैं अनेक बार बाजार में निकला हूँ, कहीं देखने में नहीं आई। कहते हैं यहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी शेव आप करता है कोई किसी दूसरे की शेव नहीं बनाता। बाल काटते हैं। लाण्ड्रियाँ भी यहाँ नहीं के बराबर ही हैं। एक कुर्ता धुलवाना हो तो उस के १०) लग जाएँगे।

यहां की प्रमुख भाषा है डच। सभी स्कूलों में डच पढ़ाई जाती है। अंग्रेजी भी यहाँ बोली और समझी जाती है परन्तु निग्रो लोग ही बोलते हैं। भारतीय डच और हिन्दी ही बोलते हैं। अंग्रेजी का ज्ञान शायद २ प्रतिशत भारतीयों को ही होगा। हिन्दी के लिए यहाँ पाठशालाएँ हैं। जिनमें भारतीय बच्चे पढ़ते हैं बड़ा होने पर स्कूल भेजते हैं, घर में हिन्दी बोलते हैं, डच भी। अतः बिना पढ़े भी हिन्दी का कुछ ज्ञान हो जाता है। परन्तु उच्च कोटि की हिन्दी नहीं समझी जाती। यहाँ तीन रेडियो स्टेशन हैं, एक है राधिका दूसरा है रापार—ये दोनों प्राइवेट हैं। तीसरा है एस. आर. एस. यह राजकीय है। राधिका पर १४ घण्टे हिन्दी का कार्यक्रम चलता है २-३ घण्टे डच का। रापर और एस. आर. एस. इसके ठीक उलटे हैं। मेरे प्रवचन इन सभी पर हुए हैं हिन्दी में।

एक दिन टी. वी. पर आर्य दिवाकर महासभा की ओर से प्रवचन होना था मुझे भेजा गया मैंने सोचा कि आर्य समाज के सत्संगों में केवल भारतीय ही आते हैं क्या कहा जाए और क्या बोला जाय कि नीग्रो भी आकर्षित हों। बस मैंने अंग्रेजी में व्याख्यान दिया। जीवन का पहला व्याख्यान, समय था केवल दो मिनट। मैंने व्याख्यान देते हुए योगासन दिखाना आरम्भ कर दिया प्रभाव यह हुआ कि मैं १५ मिनट तक बोलता रहा स्टूडियो वाले भी मुग्ध हो गये। १५ मिनट पर उन्होंने संकेत किया कि समय समाप्त है। मैंने भी एक

दो सैकण्ड में समाप्त कर दिया। दूसरे दिन से युवक और पुरुष तथा स्त्रियाँ पूछने के लिए आने लगीं आप क्लास कब प्रारम्भ कर रहे हैं। परिणाम स्वरूप अब योग की क्लासें आरंभ हो गई हैं। मेरा समय विभाग इस प्रकार का है—

मैं अपनी उपासना, आसन प्राणायाम कर ८ बजे प्रातः अपनी बैठक में आकर बैठता हूँ। उसी समय थोड़ा सा प्रातःराश लेता हूँ। दिन भर पढ़ता हूं। ऋग्वेद और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका यहाँ आकर पुनः एकबार पढ़ डाले हैं। ४ पुराण भी लगभग पढ़ चुका हूँ और इन सबके नोट भी बना लिये हैं। कोई आ जाते हैं तो चर्चा हो जाती है अथवा दिन भर पढ़ता हूँ। जुलाई से महाभारत का लेखन कार्य भी आरम्भ करूँगा।

प्रति मंगल और शुक्र को एक पण्डित जी पढ़ने आते हैं रविवार को दो युवक पढ़ने आते हैं। एक वानप्रस्थी और एक लड़का ३-४ दिन शाम के समय पढ़ने आते हैं।

प्रति सोमवार को जो ८ बजे रात्रि कर्मकाण्ड की कथा चलती है जिसमें शुद्ध मंत्रोच्चारण, मंत्रों के अर्थ तथा संस्कारों को कराने की विधि आदि की शिक्षा दी जाती है।

प्रति मंगल और शुक्रवार को ६ से ७ बजे सायं स्त्रियों के लिए आसन और प्राणायाम की क्लासें लगती हैं। चार निग्रो महिलाएँ भी आती हैं। एक अंग्रेज महिला भी है।

प्रति बृहस्पतिवार को ६ से ७ बजे तक पुरुषों के लिए योगदान की क्लास लगती है। इसमें भी ४ निग्रो आते हैं फिर ७ से ८ तक संस्कृत की क्लास लगती है। प्रति, रविवार को रेडियो रापार पर १५ मिनट का प्रवचन और शाम आर्य दिवाकर में प्रवचन होते हैं।

प्रति बुधवार को महिलाओं के लिए भी एक श्रेणी लगती है जिसमें नारियों को वेद मंत्रों का शुद्ध उच्चारण और मंत्रों का अर्थ बताया जाता है।

पत्र लम्बा हो रहा है अतः यहीं विराम देता हूँ। अगले पत्र में यहाँ के सत्संग, विवाह संस्कार अन्त्येष्टि आदि के सम्बन्ध में लिखूंगा।

सुरीनाम

शेष शुभ मङ्गल कामनाओं सहित

—**जगदीश्वरानन्द सरस्वती**

कहानी

धर्म और कर्म

—वीरपाल

धर्मदत्त और कर्मदत्त दो गहरे मित्र थे। दोनों ही कक्षा ६ में थे और एक ही विद्यालय में। कक्षा में इनमें से कभी एक प्रथम आता था तो कभी दूसरा। अब तक हर बार जब परीक्षा होती थी तो दोनों में ही कक्षा में प्रथम आने की होड़ लग आती थी।

किन्तु इस बार ऐसा हुआ कि धर्मदत्त के पिता बीमार पड़ गए। इसलिए उसे परीक्षा के दिनों में अपने पिता जी की सेवा में बहुत अधिक व्यस्त रहना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि इस बार कक्षा में कर्मदत्त ही प्रथम आया और धर्मदत्त बहुत ही कम अंक प्राप्त कर सफलता प्राप्त कर पाया। इस बात का धर्मदत्त के मन पर काफी प्रभाव पड़ा। उसे भारी निराशा हुई। धर्मदत्त के पिता ने अपने पुत्र की यह हालत देखी तो उसे साहस बंधाते हुए बोले बेटा धर्मदत्त, इस बार नहीं तो अगली बार सही, मेहनत करना, तुम कक्षा में अवश्य ही प्रथम आ जाओगे। तुम मन लगाकर पढ़ोगे तो सभी कुछ ठीक हो जाएगा। आत्म-विश्वास रखोगे तो भगवान् तुम्हारी आशा अवश्य ही पूरी करेंगे।

धर्मदत्त ने अपने पिता जी के परामर्श को अपने हृदय में बसा लिया और फिर वह मन लगाकर पढ़ने में जुट गया। वह अपने माता पिता की प्रत्येक आज्ञा का पालन करता और विद्यालय से छुट्टी होते ही सीधा घर आ जाता और अपनी पढ़ाई में लग जाता।

किन्तु कर्मदत्त का मामला इसके सर्वथा विपरीत था। वह कक्षा में प्रथम आने के बाद एक दम लापरवाह हो गया, क्योंकि उसे घमंड ने नई ही डगर पर डाल दिया था। अब उसकी संगति भी ऐसे लड़कों के साथ हो गई थी कि जो आवारा और लापरवाह थे। अब वह विद्यालय से सीधा घर नहीं आता था अपितु पढ़ने लिखने में मन

न लगाने वाले छात्रों के साथ गप-शप और खेल कूद में समय गँवाता था। इतना ही नहीं अब वह अपने माता-पिता की भी कोई चिन्ता और परवाह नहीं करता था। समय बीतता जा रहा था और कर्मदत्त के जीवन का सिलसिला भी लगातार बिगड़ता जा रहा था। अब फिल्में देखना उसके लिए अधिक प्रिय था। धीरे-धीरे परीक्षा समीप आने लगी। किन्तु जब पढ़ने में मन ही न लगता हो तो परिणाम होता भी तो क्या?

परीक्षा तो दी ही। अन्ततः परिणाम घोषित करने का दिन भी समीप आ गया। सभी की दृष्टि पिछले वर्षों के समान ही धर्मदत्त और कर्मदत्त पर गड़ी हुई थी। परिणाम घोषित हो गया तो सभी आश्चर्यचकित रह गए, क्योंकि धर्मदत्त ने जहाँ परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया, वहाँ कर्मदत्त असफल हो गया।

कर्मदत्त के मन को भारी ठेस लगी। लज्जा से वह गड़-सा गया, किन्तु अब उसे बुरी संगति के परिणाम का भी पता लग गया था।

धर्मदत्त ने पुनः अपने पुराने मित्र को सहारा दिया। वह सायंकाल उसके घर पहुँचा और उसे ढाढ़स बंधाया तथा कहा भैया, परिश्रम करोगे तो सब कुछ ठीक हो जायगा। अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करो। पहले के समान ही मन लगा कर पढ़ना आरम्भ कर दो।

कर्मदत्त को पुनः उसका सच्चा मित्र ही सहारा दे रहा था, उसने अपने मित्र का परामर्श माना और मन लगा कर पढ़ाई में जुट गया।

अब पुनः वह कक्षा में एक होनहार और मेधावी छात्र समझा जाने लगा था। वार्षिक परीक्षा आई तो उसने प्रथम श्रेणी प्राप्त कर पुनः शिक्षकों का प्रेम और अपने सहपाठियों का आदर प्राप्त कर लिया।

विद्वानों के विचारार्थ एक प्रश्न

डा० हरिश्चन्द्र, एम०बी०बी०एस०

बचपन में मैंने पढ़ा था कि स्वामी दयानन्द एक उत्कट समाज सुधारक हुए हैं। कुछ और बड़ा हुआ, तो मुझे 'सत्यार्थ प्रकाश' देखने का सौभाग्य मिला। उसकी भाषा प्रवाहपूर्ण, सरल और उस शुद्ध हिन्दी के अनुरूप नहीं थी, जिसका ज्ञान हमें स्कूल में दिया जा रहा था। अतः कुछ अच्छा नहीं लगा। ऋषि दयानन्द के प्रति जिस उदात्त विचार का बीजारोपण मेरे शिक्षक ने किया था, उसके अनुरूप सत्यार्थ प्रकाश की भाषा नहीं लगी। फलतः उस ओर रुचि के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया।

चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन के बाद जब मैं कार्यक्षेत्र में आया तो स्वामी जी के प्रति अमिट जिज्ञासा की शान्ति हेतु अनेक संस्थानों के सत्यार्थ प्रकाश मंगाये, किन्तु जिस भाषा माधुर्य और प्रवाह की कामना थी, वह किसी में भी न मिली। आर्य समाज के शताब्दी वर्ष में, आइये, इस विषय की थोड़ी विवेचना करें।

ऋषि दयानन्द की मातृ भाषा गुजराती थी और वे संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् थे। वह महा भविष्यद्रष्टा थे। अतः उन्होंने अनुभव किया कि भारत को संगठित करने के लिए एक संयुक्त भाषा अत्यन्त आवश्यक थी और केवल हिन्दी ही वह कार्य कर सकती थी। इसलिए उन्होंने, हिन्दी में सहज गति न होते हुए भी, अपने ग्रन्थों और प्रवचनों में हिन्दी को मुख्य स्थान दिया। इसी कारण उनसे परिमार्जित हिन्दी की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। यह अत्यन्त स्वाभाविक है। प्रश्न है, क्या उनके द्वारा प्रयोग में लाई गई हिन्दी का परिष्कार या शुद्धीकरण नहीं किया जा सकता है?

सम्भावना की दृष्टि से इसके निम्न उत्तर उपस्थित किये जा सकते हैं—

१—नहीं, क्योंकि जो कुछ महर्षि लिख गये हैं, उसके परिष्कार की क्षमता उनके अनुयायियों में नहीं है।

२—नहीं, क्योंकि उसके परिष्कार को उनके अनुयायी इसलिए अनुचित मानते हैं कि परिष्कार ऋषि की मूल भावना के विपरीत होगा।

३—हां, किन्तु आर्य विद्वान् अटपटी भाषा के अभ्यस्त हैं और उन्हें उसके परिष्कार की आवश्यकता अनुभव नहीं होती है।

४—हां, किन्तु आर्य विद्वानों ने इस तरफ अभी तक ध्यान नहीं दिया है।

आइये, क्रमशः सभी सम्भावित उत्तरों पर विचार करें। पहले उत्तर, कि भाषा परिमार्जन की क्षमता आर्य विद्वानों में नहीं है, मेरी कल्पना के परे है। इसे मैं असम्भव मानकर छोड़ता हूं। दूसरे उत्तर कि परिष्कार महर्षि की मूल भावना के विपरीत है, को अभी छोड़कर मैं तीसरे उत्तर, को लेता हूं कि शिक्षित आर्य इस अटपटी भाषा के आदी हैं और उन्हें परिष्कार की आवश्यकता नहीं अनुभव होती। ऐसे आर्य विद्वानों से मेरा निवेदन है, कि वे अपने लिए न सही उन शिक्षित नवागन्तुकों के लिए भाषा को सरल प्रवाहपूर्ण व आधुनिक शुद्ध हिन्दी के अनुरूप बनावें, जिससे युवावर्ग इधर आकृष्ट हो। चौथे सम्भावित उत्तर कि अभी तक विद्वानों ने इधर ध्यान नहीं दिया, के लिए इतना कहना ही प्रर्याप्त है, कि 'शुभ कार्य के लिए कभी भी विलम्ब नहीं होता है,' 'देर आयद दुरुस्त आयद।'

दूसरे सम्भावित उत्तर की विवेचना कुछ विस्तार से होनी चाहिए। आइये देखें, क्या ऋषि दयानन्द परिवर्तन और सुधार प्रेमी थे या यथास्थिति बनाये रहने के पक्षधर।

लगातार दो हजार वर्षों तक विदेशी यवन, हूण, शक, कुशाण, तातार, तुर्क, मंगोल, और अंग्रेजों के हमलों और लूट-खसूट से भारतीय समाज शारीरिक, धार्मिक और नैतिक रूप से जर्जर हो गया था। इधर लगभग एक हजार वर्षों से गुलामी का जुआ गर्दन पर ढोते-ढोते हम मूढ़, अन्धविश्वासी मूर्तिपूजक, अवतारवादी, भाग्यवादी, भूतप्रेत विश्वासी, ऊंचनीच और अस्पृश्यता की भावना से ग्रस्त, गन्डे-तावीज के भक्त और ढोंगी हो गये थे। हमारे दैनिक धर्म, ज्ञान, आदर्श और समृद्धि का दिवाला निकल गया था। हमारा ज्ञान टोने-टोटके, छापा-तिलक, पाखण्ड, और धूर्तता तक सीमित रह गया था। ऐसे अज्ञानान्धकार के गर्त में पड़े समाज को यथास्थिति में न रहने देकर, स्वामी दयानन्द ने समग्र क्रान्ति, परिवर्तन और परिष्कार का बिगुल बजाया और डंके की चोट निम्न सुधार किए—

जाति भेद का नाश—जब जातियों की संख्या सैकड़ों-हजारों में पहुंच गई थी, समाज खण्ड-खण्ड हो चुका था, आपस में रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं था, ऊंच नीच की भावना का साम्राज्य छाया हुआ था, तब महर्षि ने उद्घोष किया कि, 'जन्म से सब मनुष्य समान हैं। वर्ण गुण कर्म स्वभाव

सूचक हैं।'

अस्पृश्यता निवारण—जब हरिजनों की छाया पड़ने से सवर्ण जातियां अशुद्ध होने लगीं और इससे सचेत करने के लिए उन्हें बाँस से सड़क पर शब्द करके चलना पड़ता था, उनके पद चिह्न पर सवर्णों के पद पड़ने से वे कलुषित हो जाते थे और उन्हें मिटाने के लिए पीठ पर झाड़ू बाँधकर चलना पड़ता था, शूद्रों को थूकने के लिए गले में हंडी लटका कर चलना ही धार्मिक व्यवस्था मान ली गई थी, शूद्र कुएँ का पानी पीने के लिए तरसते थे और उन्हें पोखर के पानी से ही पिपासा शान्त करनी पड़ती थी, वे देवता के दर्शन के लिए तरसते थे, शिक्षा के द्वार न केवल उनके लिए बन्द थे, अपितु धोखे से भी कान में वेदवाक्य चले जाने पर पिघला हुआ सीसा उनके कानों में भर दिया जाता था, वेदवाक्य उच्चारण करने पर जिह्वा काट दी जाती थी, मंत्र याद करने पर शीश के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते थे, उनकी सम्पत्ति द्विजों द्वारा अपनी समझ कर छीन ली जाती थी, उन्हें कीट पतंगों के समान संसार से जबरन मोक्ष दिला दिया जाता था, तब महान् विप्लववादी दयानन्द ने शंखनाद किया—

शूद्रो ब्रह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ।। (मनुस्मृति)

(शूद्र कुल में उत्पन्न होकर उच्च वर्ण के समान गुण कर्म स्वभाव वाला शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है।

धर्मचर्यया जधन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमाद्यते जाति परिवृत्तौ,
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जाति परिवृत्तौ।
(आपस्तम्ब धर्मसूत्र)

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तर वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जाता है, जिसके योग्य हो। अधर्म-आचरण से उत्तम वर्ण वाला भी नीच वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जाता है।)

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्या ँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।
(यजुर्वेद २६, २)

(जैसी यह कल्याणकारिणी वाणी ब्राह्मणों, शूद्रों, आचार्यों, भृत्यों, राजाओं एवं अन्य प्रजा वर्ग के लिए कही गई है (कल्याण करे।)

फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात
(पूर्व मीमांसा अ० ६, पा० १)

(कर्म के फल से शास्त्र में सभी को अधिकार प्राप्त हो जाता है, अर्थात् कर्मानुसार शास्त्र पढ़ने का अधिकार सभी को होता है।)

महर्षि ने वेद व्यास की व्यवस्था की याद दिलाई, "चारों वर्णों के लोगों को यह वैदिक आदेश सुनाओ।' 'इस प्रकार उन्होंने तुमुल नाद कर अस्पृश्यता की इतिश्री करके शूद्रों के लिए भी विद्या और ज्ञान के द्वार खोल दिए।

स्त्री उद्धार—जब स्त्री को स्वभाव से व्यभिचारिणी, हृदयहीन, अशुभ, कुटिल, दुराचारिणी (मनुस्मृति १४, १५, १६, १७, १८), कामी मूर्ख पति को भी परमेश्वर के समान पूजने के लिए बाध्य (मनुस्मृति) ५, १४४); नरक का द्वार, अविश्वसनीय, मीठा विष (शंकराचार्य कृत प्रश्नोत्तरी); अन्दर-अन्दर प्रहार करने वाली, हृदय में विष वाली, अविनय का घर, दोषों का भंडार, माया की पुतली, श्मशान-घाट के समान त्याज्या (पंचतंत्र); समझा जाता था, उसके लिये अध्ययन के द्वार बन्द थे, तब पुरानी रूढ़ियों को चूर-चूर करने वाले दयानन्द जी ने शंखध्वनि की—

गोधा घोषा विश्ववारा अपालोपनिषन्निषत्
ब्रह्मजाया जुहूर्नाम अगस्त्यस्य स्वादिति:
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च, सरमा रोमशोर्वशी
लोपामुद्रा च नद्यश्च, यमीनारी च शाश्वती
श्रीर्लक्ष्मी : ऽसार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिणा
रात्री सूर्या सावित्री, ब्रह्मवादिन्य ईरिता ।

(बृहद्देवता २, ८४)

(क्या बिना अध्ययन ही गोधा, घोषा, विश्ववारा, अपाला, ब्रह्मजाया, जुहू:, अदिति, इन्द्राणी, इन्द्रमाता, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा, यमी, शाश्वती, श्री:, लक्ष्मी:, असार्पराज्ञी, श्रद्धा, मेधा, दक्षिणा, रात्री ,सूर्या, सावित्री ब्रह्मविद्या विशारद हुई ?)

"इदं मंत्रं पत्नी पठेत् (श्रोत सूत्र)' तभी सम्भव है जब पत्नी वेद ज्ञाता हो। इस प्रकार आपने स्त्रियों के वेदाध्ययन अधिकार को प्रतिष्ठित किया।

बाल विवाह का अन्त—जब दस वर्ष की अविवाहित कन्या को देखने मात्र से पिता माता और भाई नरक के अधिकारी होते थे (पराशरस्मृति ७,६,८) इतना ही नहीं, अपितु तीन क्षणों में रजस्वला हुई कन्या के देखने से माता-पिता भाई, मामा और बहिन सब नरक के अधिकारी होने लगे (ब्रह्मपुराण) तब स्वामी दयानन्द ने यथास्थिति से संतुष्ट न रहकर घोषनाद किया कि १६-२४ वर्ष की कन्या व २५-४८ वर्ष का युवक ही विवाह योग्य हैं।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् (अथर्ववेद)

(जैसे पूर्ण ब्रह्मचारी (विद्याप्राप्त) लड़के अपने अनुकूल विदुषी युवती से विवाह करते है, वैसे ही ब्रह्मचर्या (पूर्ण विद्या प्राप्त युवती अपने अनुकूल पुरुष को प्राप्त करे।)

अनमेल विवाह का भंडाफोड़—जब दुधमुँही बच्चियाँ बुड्ढे खूसटों को व्याही जाने लगीं, धन-बल से कन्याओं के क्रय में संकोच नहीं रहा था बंगाल की धरती विधवाओं के चीत्कार से गूंज उठी, तब महर्षि दयानन्द ने वज्र संकेत किया—

काममामरणत्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेतु गुणहीनाय कर्हिचित् (मनुस्मृति)

(चाहे लड़का लड़की मरण पर्यन्त कुंवारे रहें, किन्तु अनमेल विवाह नहीं होने चाहिए।)

अधर्म का नाश—जब व्यर्थ व असत्य पौराणिक गल्पों और कर्मकाण्डों का नाम ही धर्म मान लिया गया था, तब महर्षि ने धर्म के सही रूप को इंगित करते हुए कहा—

'पक्षपात रहित न्याय आचरण, सत्य भाषण और वेद अनुकूल व्यवहार ही धर्म है।''

अवतारवाद का खंडन—जब कछुए, मगर, सूअर सभी ईश्वर के अवतार बनने लगे, तो ऋषि ने बताया कि ईश्वर अजन्मा, अनन्त निराकार है। उसका अवतार असम्भव और मूढ़ों का प्रलाप है।

मूर्तिपूजा का खंडन—दयानन्द जी ने बताया 'विद्वान् ही देवता हैं। विद्वान्, माता-पिता, अतिथि, सच्चरित्र स्त्री पुरुषों का सत्कार ही देवपूजा है। तेंतीस कोटि (?) मिट्टी-पत्थर के लौंदे पूजना पाप और अपनी बुद्धि का दिवाला निकालने सदृश है।'

श्राद्ध और तर्पण की व्याख्या—स्वामी जी ने बताया कि जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाये, उसे श्रद्धा कहते है और श्रद्धा से किये गये काम को श्राद्ध कहते है। जिस कर्म से माता, पिता, विद्वान् तृप्त हों वही तर्पण है। इस प्रकार श्राद्ध और तर्पण मुर्दों का नहीं जीवित का ही संभव है।

कर्म की श्रेष्ठता—जब भाग्यवाद ने मनुष्यों को अकर्मण्य, परमुखापेक्षी, कायर और क्लीव बना दिया था, तब स्वामी जी ने बताया कि 'संचित कर्म

ही प्रारब्ध है। कर्म से ही प्रारब्ध बनता बिगड़ता है। अतः प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।"

महान् सुधारवादी महर्षि दयानन्द के परिष्कारों का वर्णन कहाँ तक किया जाये, उनका पूरा जीवन ही 'सुधार' शब्द से व्यक्त किया जा सकता है। वे महान् क्रान्तिकारी, अन्ध विश्वास और अन्ध भक्ति के मूलोच्छेदनकर्ता और बुराइयों के निर्भीक प्रहारक थे। उन्होंने कभी भी यथास्थिति से समझौता नहीं किया।

और आज ऐसे उद्भट विद्वान और मार्गदर्शक के दाकियानूसी अनुयायी सुधार के नाम से ही काँपते हैं। आखिर क्यों? क्या स्वामी जी के जीवन से हमने यही शिक्षा ली है?

तमिलनाडु में आर्यसमाज

—वचनेश

तमिलनाडु दक्षिण भारत का एक ऐसा प्रदेश जो अनेक वर्षों से देश भर में चर्चा का विषय बना रहा है। संयोगवश पिछले दिनों इस प्रदेश की राजधानी मद्रास एवं कतिपय अन्य प्रमुख नगरों का भ्रमण करने का अवसर प्राप्त हो गया। इस प्रदेश में कभी हिन्दी के विरुद्ध विद्रोह की चिनगारी उभरती है तो कभी मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के विरुद्ध आक्रोश का स्वर गूंजता है। इतना ही नहीं कुछ मास पूर्व तो वहाँ के द्रविड़ कषघम् नामक उग्र वादी संगठन ने श्री राम, सीता एवं लक्ष्मण के पुतले जलाकर अपनी 'अनोखी सूझ' का परिचय दिया। इस विरोधी स्वर का आधार यह वनाया गया कि राम आर्य थे तो रावण द्रविड़ तथा राम की रावण पर विजय द्रविड़ों पर आर्यों की विजय का प्रश्न है। यद्यपि इतिहास एवं प्राचीन ग्रन्थों से यह सर्वथा सिद्ध है कि रावण भी उसी भाँति आर्य जाति में जन्मा था जिस भाँति श्रीराम। राम और रावण का संघर्ष आर्य और द्रविड़ संघर्ष नहीं अपितु दो मनोवृत्तियों का संघर्ष था। किन्तु अंग्रेजों के मानसपुत्रों के तुल्य आचरण करने वाले कतिपय 'राजनीति विशारदों' ने एक ऐतिहासिक घटना को भी अपने दाँव-पेचों का आधार बना लिया है।

हिन्दी के प्रति उत्पन्न की गयी द्वेष भावना की परिचय भी उत्तर भारत से दक्षिण के इस सागर तटवर्ती नगर मद्रास में जाने वाले किसी भी यात्री को उस समय मिल जाता है, जबकि वह किसी रिक्शाचालक से हिन्दी में किसी स्थान तक पहुँचने के लिए भाड़ा पूछता है तो उसे उत्तर तमिल में मिलता है। अधिकतर स्थितियों में ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर देने वाला हिन्दी को समझ कर भी नासमझ बनता है। यही स्थिति एक वर्ग विशेष में उभारी गयी राम विरोधी भावना के संबंध में भी कही जा सकती है।

इन स्थितियों को देखकर किसी भी राष्ट्र भक्त के मन में एक टीस सी उभरे विना नहीं रह पाती और उसके मानस पटल पर अनेक शंका कुशंकाओं के सघन घन घहरा उठते हैं। किन्तु निराशा के इस घटाटोप अंधकार में भी आशा का एक दीप तमिलनाडु में जल रहा है जो अनेकता, विखंडन और

प्रान्तीय संकीर्णता के इस प्रचंड प्रभंजन में भी नन्दादीप बनकर शनैः शनैः अपने प्रकाश क्षेत्र को बढ़ा रहा है। यह दीपक है आर्य समाज।

कार्यक्षेत्र

आर्य समाज को इस प्रदेश में अपना कार्य आरम्भ किए अनेक वर्ष व्यतीत हो गए हैं। शनैः शनैः उसने उत्तर भारत से यहां आकर बसे लोगों के समान ही दक्षिण भारतीयों में भी अपनी ज्ञान ज्योति प्रस्फुटित की है। अनेक मूक साधकों, आर्य संस्कृति आराधकों एवं महर्षि के अनुयायियों के ठोस परिश्रम, लगन और उत्साह के फलस्वरूप तमिलनाडु में आर्य समाज का कार्यक्षेत्र विस्तार पा रहा है।

इन दिनों महानगर मद्रास में ही चार प्रमुख आर्य समाज हैं—ट्रिपलकेन, कोलम्बकम्, माउन्ट रोड और जिमाबुयूर। आर्य समाज का प्रधान कार्यालय है आदि अप्पा नायकम् स्ट्रीट में। चार आर्य समाजों में से तीन के तो अपने भवन भी निर्मित हो गए हैं। इन सभी समाजों में प्रति सप्ताह जहां सत्संग आदि का कार्यक्रम सुचारु रूप से सम्पन्न होता है वहां वार्षिकोत्सवों के अवसर पर देश के प्रमुख आर्य विद्वानों के भाषणों और प्रवचनों से भी सैकड़ों तमिलनाडु वासी लाभान्वित होते हैं और देव दयानन्द द्वारा प्रवाहित ज्ञान की गंगा में अवगाहन कर सत्य का साक्षात्कार करते हैं। समाज के सभासदों में पंजाब, सिंध, गुजरात और उत्तर-प्रदेश आदि से मद्रास में आकर अपने व्यवसाय के सिलसिले में बसे लोगों की संख्या पर्याप्त है तो तमिलनाडु के स्थानीय निवासियों की संख्या भी द्रुत गति से बढ़ती जा रही है।

मद्रास नगर के अतिरिक्त उसके कुछ उपनगरों में भी आर्यसमाज सक्रिय है और मदुरै इत्यादि कई प्रमुख नगरों में भी अब देव दयानन्द का पावन सन्देश गूंजने लगा है।

हिन्दी प्रचार में योगदान

हिन्दी के विरोध में इस प्रान्त में उठाए गए प्रचण्ड तूफान के बावजूद आर्य समाज यहां महर्षि दयानन्द द्वारा दिए गए आर्य भाषा के प्रचार और प्रसार के आह्वान की पूर्ति में दृढ़ संकल्प सहित कार्यरत है। यहाँ आर्य समाज द्वारा डी० ए० वी० हायर सेकन्डरी स्कूल का संचालन होता है तो आर्य समाज चन्दूलाल पारीख बालिका मिडिल विद्यालय और दयानन्द पाठशाला में भी हिन्दी के पठन-पाठन की सराहनीय व्यवस्था है।

आर्य समाज के इन विद्यालयों में हिन्दी भाषी ही नहीं अपितु अनेक अहिन्दी भाषी भी हिन्दी भाषा का अध्ययन करते हैं। समाज ने जहां अपने

विद्यालयों में हिन्दी की शिक्षा का प्रबंध किया है, वहाँ तमिल की शिक्षा दीक्षा की भी उनमें व्यवस्था की गयी है।

वैदिक ज्ञान का प्रचार

आर्यसमाज ने तमिलनाडु में हिन्दी के प्रचार और प्रसार का दायित्व वहन कर जहाँ राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने का सराहनीय प्रयास जारी रखा है, वहाँ तमिल जो इस प्रदेश के बहुसंख्यकों की भाषा है, की भी उपेक्षा नहीं की। पिछले दिनों ही यहाँ सत्यार्थ प्रकाश के तमिल संस्करण का विमोचन उपराष्ट्रपति श्री बी० डी० जत्ती के करकमलों से एक भव्य समारोह में सम्पन्न हुआ।

आर्यसमाज की पत्रिका दयानन्द ज्योति का प्रकाशन तमिल भाषा में होने से भी अनेक तमिल भाषियों को आर्यसमाज के संपर्क में आने और उसके संदेश को समझने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है।

एक गहन रोग का निदान

तमिलनाडु में ब्राह्मण अब्राह्मण विवाद भी चरम सीमा पर रहा है और उससे यहाँ की राजनीति ही नहीं अपितु सामाजिक व्यवस्था भी बड़ी सीमा तक प्रभावित रही है। अब आर्यसमाज द्वारा प्रदत्त सत्य वैदिक ज्ञान के पावन प्रकाश में अनेकों जन्मना अब्राह्मणों को भी अपना जीवन सत्य के ज्ञान से संवारने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है। मंद गति से ही क्यों न हो आर्यसमाज इस प्रदेश की राजधानी के सभी वर्गों में अपना स्थान बनाता जा रहा है।

समाज के कर्णधार

विपरीत परिस्थितियों के इस प्रबल अंधड़ में भी धर्म के वास्तविक स्वरूप को जन-जन में फैलाने और उन्हें आशा ही नहीं अपितु विश्वास की राह दिखाने के लिए जो ऋषि भक्त संकल्पबद्ध होकर तल्लीन हैं उनमें अध्यक्ष श्री धर्मजीत जिज्ञासु एवं मंत्री श्री टी० एस० नारायण तो प्रमुख हैं ही, साथ ही श्री आर० वेलायुधन, श्री इन्द्रसेन तथा श्री जयदेव जी आदि भी महर्षि के पावन सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने हेतु प्रयासरत हैं।

उनके अनथक प्रयत्न शनैः शनैः फलीभूत भी हो रहे हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि अनेकता और विघटन की उस आँधी में जो तमिलनाडु में अभी भी वह रही है, आर्यसमाज ही एक ऐसी विचारधारा है कि जो भ्रान्ति के पटल को पूर्णतः विदीर्ण कर विदेशी शासकों द्वारा अनेक वर्षों तक प्रचारित और प्रसारित मिथ्या धारणाओं को जनता जनार्दन के मानस पटल से हटाने में

समर्थ है।

'जन-ज्ञान' का योगदान

अपने इस प्रवास के दौरान ही मेरी भेंट एक दिन त्यागराज नगर में आयोजित एक गोष्ठी में श्री वी० कृष्ण अय्यर नामक एक पत्रकार एवं साहित्यकार बन्धु से हो गयी। जब उनसे मेरा परिचय हुआ तो वार्ताक्रम में ही तमिलनाडु में वैदिक धर्म के प्रचार और प्रसार की स्थिति पर भी विचार विमर्श होने लगा। हठात् उनके मुख से निकला कि 'आप दिल्ली से आए हैं, जहाँ से 'जन-ज्ञान' नामक अंग्रेजी और हिन्दी मासिक का प्रकाशन होता है। क्या आपका जन ज्ञान संपादक से परिचय है?' जब मैंने उनके प्रश्न के उत्तर में 'जन-ज्ञान' और दयानन्द संस्थान के सम्बन्ध में जानकारी होने की स्वीकारोक्ति की तो वह नितांत प्रसन्न और हर्षित मुद्रा में बोले, 'जन-ज्ञान' वैदिक विचारधारा के प्रचार और प्रसार में ठोस योगदान दे रहा है। उसमें प्रकाशित सामग्री से जहाँ हमें आर्यसमाज और महर्षि दयानंद की विचार धारा को सही परिप्रेक्ष्य में समझने का अवसर मिल रहा है वहाँ वैदिक विचारधारा का भी यह मासिक हमें सही रूप में दर्शन करा रहा है।

'जन-ज्ञान' संपादक का परिचय पूछने पर जब मैंने ज्योत्स्ना के सम्बन्ध में यह बताया कि उसने हाल ही में अंग्रेजी में एम० ए० की उपाधि प्राप्त करने के उपरांत पत्रकारिता की परीक्षा में भी सफलता प्राप्त की है तो श्री अय्यर आश्चर्यचकित होकर कहने लगे, "मैं तो समझता था कि ज्योत्स्ना जी १५-२० वर्ष से पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्यरत होंगी। वस्तुतः इतनी युवा अवस्था में इतना सुदक्ष संपादन, सरल और प्रभावी भाषा—यह तो मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी।"

और उस समय मेरा माथा गर्व से ऊंचा हो गया। क्योंकि ऐसा भला कौन होगा जिसे अपने किसी की किसी सर्वथा अपरिचित द्वारा की गई प्रशंसा पर हर्ष न हो।

श्री अय्यर के ये शब्द भी मेरे लिए एक नवीन प्रेरणा का स्रोत बने और साथ ही आर्यसमाज द्वारा दिए जा रहे सही दिशादान का प्रमाण भी कि "मैं अपनी मान्यताओं में सनातनी हूँ किन्तु आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द की विचारधारा में उभरा अग्रगामी वेदवाद ही स्वजाति, स्वदेश, स्वधर्म तथा स्वसंस्कृति के कल्याण का एकमात्र मार्ग है। आर्यसमाज ही यहाँ अंधकार में प्रकाश की किरण बन सकता है।"

भविष्य ही बताएगा कि उनकी यह आशा कहाँ तक पूर्ण होती है।

श्रौर जो विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत श्रौर शिक्षा को छोड़ मुसलमान ईसाइयों के सदृश बन बैठना यह भी व्यर्थ है। जब पतलून श्रादि वस्त्र पहनते हो श्रौर तमगे की इच्छा करते हो तो क्या यज्ञोपवीत श्रादि का बड़ा भार हो गया था ? (स० प्र० ११ समु०)

उपनयन का महत्त्व

श्रावणी और उपनयन का गहरा संबंध है। अतः इस अवसर पर आर्यसमाज के गौरव शास्त्रार्थ महारथी पं० बिहारीलाल जी शास्त्री का सामयिक लेख प्रस्तुत है। —संपादक

हिन्दुओं में आत्महीनता (Inferiority complex) का रोग इतना बढ़ गया है कि अपनी उत्तम से उत्तम रीति और सिद्धान्तों को बुरा समझना और अन्यों की मूर्खतापूर्ण बातों की भी श्लाघा करना।

यज्ञोपवीत श्रौर शिखा को तो व्यर्थ बताते हैं श्रौर विलायत के बिल्लों को रुचि से लगाते हैं। यदि जड़ बिल्ले, मैडल, झंडे, बैज, हृदय पर प्रभाव डालते हैं श्रौर जड़ चित्र चेतन आत्मा को प्रेरणादायक हैं तो शिखासूत्र प्रेरणादायक क्यों नहीं हैं ?

शिखा के बाल जहाँ रखे जाते हैं वहीं सब ज्ञानवाहिनी शिराओं का केन्द्र है। इसी शिरोभाग को वेद ने "स्वर्ग्यो ज्योतिषावृतः" प्रकाश से आवृत स्वर्गीय पदार्थ कहा है। सब सन्तों ने ब्रह्मरंध्र की प्रशंसा की है। यहाँ ही सुरत चढ़ाकर संत भवसागर पार होना मानते हैं। इसी को सहस्रार चक्र और सहस्र दल कमल सब सन्तों ने कहा है। अत: शिर के इस भाग पर बाल रखने का ऋषियों ने विधान किया कि जिससे यह स्मरण होता रहे कि हमारा कर्तव्य ज्ञान की प्राप्ति है और चरम लक्ष्य ब्रह्म ज्ञान तक पहुँचना है। मस्तिष्क और प्राण का संयोग कराना है। साथ ही धूप, शीत, वर्षा से इस कोमल और प्रमुख स्थान की रक्षा भी करनी है। शिखा इन्हीं बातों की प्रेरणा देती है। यदि किन्हीं स्वास्थ्य रक्षक कारणों से शिखा न भी रखी जाये तो कोई पाप नहीं, क्योंकि

वेद कहता है:—

श्रियै शिखा, यजु:, १९।९२

शोभा, सौभाग्य लक्ष्मी के लिए शिखा है। परन्तु विना कारण ही शिखा का त्याग करना महामूर्खता है।

संसार की सब बड़ी-बड़ी इमारतों पर चोटी रहती है। आर्य जाति भी संसार की बड़ी जाति है अत: उसके चोटी होनी ही चाहिए।

अन्य देश वालों के चोटी नहीं होती। चीनियों के पहले चोटी रहती थी अब उन्होंने कटा डाली अत: हमें भी कटा डालनी चाहिए यह तो अन्य देशों का अन्धानुकरण हुआ? चोटी रखने में दुर्गुण वा हानि बिना बताये क्यों चोटी कटा दी जाये? इसे सोचना चाहिए।

चोटी और लंगोटी यही तो हमारी संस्कृति के दो चिह्न हैं। चोटी और संयम ज्ञान का प्रतीक (Symbol of Knowledge) और लंगोटी है सदाचार का प्रतीक। जिस जाति में ज्ञान और सदाचार है वह जाति धन्य है। चोटी और लंगोटी वाले ज्ञान और सदाचार से हीन क्यों देखे जाते हैं? यह प्रश्न कोरा आक्षेपात्मक है। चिह्नों के साथ कुछ अन्य कर्तव्य भी तो करणीय हैं। केवल वर्दी और झंडा ही तो सेना को विजय नहीं दिला सकते। शस्त्र और युद्ध कला की भी अपेक्षा है। शिखा और यज्ञोपवीत के साथ विद्याध्ययन व्रत-पालन भी आवश्यक हैं। पर जैसे वर्दी और झंडा भी आवश्यक है वैसे ही दोनों चिह्न भी। न्यायालय में जाने पर वकील को चोगा और कुछ चिह्न आवश्यक हैं तो गुरुकुल प्रवेश के लिए भी दोनों चिह्न आवश्यक हैं। गुरुकुल के अतिरिक्त वर्णाश्रम के भी तो ये चिह्न हैं।

प्रश्न—तो और कोई चिह्न बना लिए जायें?

उत्तर—तो इन चिह्नों में आपको क्या दोष दीख पड़ते हैं। यदि इनमें कोई दोष नहीं तो अन्य चिह्न क्यों रक्खे जायें?

प्रश्न—ये पुराने हो गये हैं।

उत्तर—तो भूमि, जल, धूप, वस्त्र सब पुराने हैं। सबका विध्वंस करके नयी सृष्टि बनाओगे क्या?

प्रश्न—जनेऊ का प्रयोजन क्या है?

उत्तर—९६ अंगुल तार का तीन लड़ी वाला चिह्न स्मरण कराता है कि हमें जीवन में ६४ कलाओं और ३२ विद्याओं को पूर्ण करना है अत: जितना भी पुरुषार्थ उसके लिए कर सकें करें। तीन तार स्मारक हैं कि ऋषि-ऋण,

देवऋण और पितृऋण को उतारने के लिए आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय यज्ञादि परोपकार और वृद्धों की सेवा करना है तथा ज्ञान और ज्ञानानुसार कर्म और ज्ञान कर्म वे जो ईश्वर की ओर ले जायें अर्थात् उपासना के सहित रहें। ज्ञान, कर्म, उपासना वेदों के इन तीनों कांडों का ज्ञान प्राप्त करना है। जितना भी हो सके जीवन में उतना करें।

प्रश्न—कला और विद्यायें क्या हैं ?

विद्या ह्यनन्ताश्च कलाः संख्यातु नैव शक्यते।
विद्यामुख्याश्च द्वात्रिंशच्चतुःषष्टि कलाः स्मृताः।
यत्स्याद्वाचिकं सम्यक्कर्म विद्याभिसंज्ञकम्।
शक्तो मूकोऽपि यत्कर्त्तुं कला संज्ञं तु तत् स्मृतम्।

शुक्र नीति अध्याय ४ श्लोक ६४, ६५

अर्थात् यद्यपि विद्यायें और कलायें असंख्य हैं परन्तु मुख्य विद्यायें ३२ और कलायें ६४ हैं।

जो वाणी का विषय है वह विद्या और जिसे गूंगा भी कर सके वह कलाए अर्थात् वाचिक ज्ञान विद्या और हाथ से काम का करना कला है। आगे इनको गिनाया गया है।

यज्ञोपवीत के ९६ अंगुल तार का होने का दूसरा प्रयोजन है कि मनुष्य का शरीर भी ९६ अंगुल का ही होता है। यथाः—

शरीरं तावदेव स्यात् षण्णवत्यंगुलात्मकम्।
देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्॥

अर्थात्—शरीर ९६ अंगुल (अपने अंगुल से) होता है। उसके मध्य हृदय आगे का स्थान है चमकते सोने के समान। जाबाल दर्शनोपनिषद् खंड ४, श्लोक १

अर्थात्—सम्पूर्ण शरीर मानो यज्ञोपवीत के नियन्त्रण में रहेगा।

शरीर इन्द्रिय व्यापारादि का बंधना और वश में रखना जीवात्मा को मुक्त करता है।

प्रश्न—ये सब जगड्वाल हैं। खाना-पीना आराम से रहना यही जीवन का लक्ष्य है।

उत्तर—तो मनुष्य और पशु में भेद क्या रहा ? मानव जीवन पुरुषार्थ के लिए है और पुरुषार्थ है ज्ञान की ज्योति को जगाना, सदाचार (ब्रह्मचर्य) के साथ जीवन को संयम युक्त बना के लोक कल्याण सुव्यवस्था की स्थापना करना। इसलिए यज्ञोपवीत संस्कार में बालक बालिकायें कहते हैं:—

अनृतात् सत्यमुपैमि

अनृत अव्यवस्थित जीवन से ऋत सत्य सुव्यवस्थित जीवन की ओर बढ़ता हूँ।

सुव्यवस्थित जीवन वही है जो सदा नियम के अनुसार रहे। इसलिए वेद मंत्र में सृष्टि के देव और इन देवों को प्रेरणा देने वाले अध्यात्म देव भगवान् का स्मरण किया जाता है।

१. अग्ने व्रतपते, २. वायो व्रतपते, ३. सूर्य व्रतपते, ४. चन्द्र व्रतपते, ५. व्रतानां व्रतपते।

ईश्वर को भिन्न-भिन्न नामों से संबोधन करने का तात्पर्य यही है कि इन पदार्थों के अनुसार नियमित जीवन बनाया जावे। प्रभु से आध्यात्मिक बल की प्रार्थना की गई है—

तच्छकेयम्

भगवन्! मैं अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, इन्द्र के समान आपके नियमों में रहकर दैवी सम्पत्ति का अधिकारी बनूं। अनृत जीवन मनुष्यत्व (अनृता वै मनुष्याः) से ऋतदेवत्व (ऋतं वै देवाः) की ओर चलूं। अज्ञानी साधारण मनुष्य के जीवन से उठकर ज्ञानी विद्वानों के दिव्य जीवन को प्राप्त करूं। इस पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति कैसे होगी? इसका उपाय गुरु बताता है कि अपने हृदय को शुद्धजल के समान निर्मल रक्खो, गुरु शिक्षा इस विधि द्वारा दी जाती है कि गुरु बालक बालिका की अंजलि में जल भर अपनी अंजलि के जल को छोड़ देता है और दोनों जल मिला कर एक रूप हो जाते हैं। गुरु का काम भी इसी प्रकार शिष्य को आत्मसात् करना है। शिष्य की अंजलि भी जलपूर्ण होनी चाहिए अर्थात् सीखने वाले में कुछ अपनी बुद्धि और शुद्धहृदयता होनी चाहिए। जिसे अपनी गाँठ की अक्ल नहीं उसकी सारी शिक्षा "अंधस्येव दर्पणम्" अंधे को आईना दिखाना है। फिर गुरु बालक बालिका की अंजलि के जल को एक पात्र में छुड़वा देता है। यह अभिनय इस बात की शिक्षा देता है कि अपने प्राप्त किए ज्ञान को अपने ही तक न रक्खो किसी पात्र में निक्षेप कर दो। जब पात्र मिले उसे ज्ञान दे दो। ज्ञान का प्रसार चलता रहे। ज्ञान अवरुद्ध न हो।

कैसी सुन्दर शिक्षायें दी जा रही हैं इन विधियों द्वारा। क्या ये विधियां उपेक्ष्य हैं। आज शिक्षा बढ़ रही है पर देवत्व तो क्या मनुष्यत्व भी घट रहा है। दानवत्व बढ़ रहा है।

लछमन का दिल है शिद्दतेगम से फटा हुआ,

दर पे है रामचन्द्र के रावण डटा हुआ।

शिक्षा के साथ व्रत नहीं है। व्रत के साथ शिक्षा देकर जीवन का निर्माण होता था गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में। वह प्रणाली नहीं रही, न रहे। उसके खंडहर हैं। हम इन्हीं की रक्षा कर रहे हैं। कोई दिन आयेगा कि कोई माई का लाल इस भव्य भवन को फिर बनायेगा। नाटक ही सही पर है तो हरिश्चंद्र सत्यवादी का नाटक। सुलताना डाकू का तो नहीं है।

आत्महीन लोगो! आर्य संकृति के दिव्य रूप की कल्पना करो जो कभी पुरानी नहीं होती। उषा के समान सदा नयी ही बनी रहती है।

अब गुरु बताता है कि शिक्षा प्राप्ति के लिए सबसे मुख्य वस्तु है स्वास्थ्य।

धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलकारणम्

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन सबका मूल कारण है "आरोग्य"। नीरोग व्यक्ति ही शिक्षा में सफल हो सकेगा और नीरोग रहने के लिए विद्यार्थी को अपना उदर ठीक रखना होगा। नाभि ही केन्द्र है। केन्द्र से विचलित न रहो। केन्द्र प्राकृतिक नियमों से चलायमान न होना चाहिए। जो व्यक्ति या जाति केन्द्र से, प्राकृतिक नियम अर्थात् धर्म से हटी और विश्रृंखली बन, वह विनाश की ओर चली जाती है। कंधे पर हाथ रख कर गुरु ने दृढ़तापूर्वक धर्म नियमों पर अटल रहने को समझाया। अब गुरु ने उदर पर हाथ रखकर कहा कि उदर को ठीक रक्खो।

भोजन की अव्यवस्था से ही अनेक रोग धर दबाते हैं। चटोरपन, रूक्ष, तिक्त, बासा भोजन, मांस, अंडे, मछली, भंग आदि उत्तेजनक पदार्थ उष्णता बढ़ाकर रक्तचाप (ब्लड प्रेशर), हृदय की धड़कन, वायु, कंप आदि रोग उत्पन्न करते हैं। मांस शरीर को पुष्ट करता है पर प्राण को चंचल करके निर्बल बना देता है। मांसभक्षी जीव अधिक श्रम नहीं कर सकते। सहसा फुर्ती से काम कर डालें, पर स्थिर श्रम उनसे नहीं हो सकता। सुरा रक्त को उत्तेजित कर हृदय को निर्बल बनाती है और भंग बुद्धि को नष्ट करती है।

अंडे वायु को बढ़ाकर अनेक वायु संबंधी रोग बुढ़ापे में पैदा करते हैं। ब्लड प्रेशर का रोग इस लिए बढ़ रहा है कि मनुष्य उत्तेजक भोजन करता है। कष्ट सहन की शक्ति इन पदार्थों के भोजन से नहीं रहती। प्राण निर्बल हो जाते हैं।

अब दोनों कंधों को छूकर गुरु ने बताया कि केवल पौष्टिक भोजन करते रहना और परिश्रम न करना रोगोत्पादक है। कंधों को छूकर बताया कि शारीरिक श्रम अवश्य करो। खेल-कूद भी श्रम है और घर के काम काज भी श्रम हैं। प्राचीन काल में पानी भरना, लकड़ी काटना, गायों को चारा चुगाना प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक था। परिश्रम और गो दुग्ध पान, खुली वायु में रहना, अब मिलाओ आजकल के सिगरेट चाय पीने वाले आलसी विद्यार्थियों से उन प्राचीनों का जीवन।

कष्ट सहिष्णु दीर्घ जीवी आनबान के पक्के और ये नाजुक अल्पप्राण इसीलिए शिथिल प्रतिज्ञ। अब गुरु ने हृदय पर हाथ रखकर कहा कि केवल भोजन और श्रम ही उत्तम स्वास्थ्य नहीं बना सकते। इसके साथ-साथ हृदय को निर्मल स्वच्छ रखना होगा। उत्तम विचार रखने होंगे। डाक्टर हनीमैन कहता है कि काम, क्रोध, द्वेष आदि बुरे विचार रखने से शरीर में शोरा पैदा होकर अनेक रोग उत्पन्न करता है। दुर्विचार अनेक भयंकर रोग प्रकट करते हैं। अत: पूर्ण स्वास्थ्य के लिए भोजन व्यवस्था ठीक रखना, व्यायाम और श्रम करना, स्वाध्याय सत्संग करना, कुसंग से दूर रहना भी आवश्यक है।

वैदिक धर्म कितनी उदारता सिखाता है यह यज्ञोपवीत की एक विधि से सिद्ध होता है। गुरु पूछता है:—

तुम किसके शिष्य हो ? तो ब्रह्मचारी कहता है:—आपके। तो उत्तर में गुरु कहता है कि तुम्हारा गुरु अग्नि है तुम्हारा गुरु इन्द्र है। इसके पश्चात् गुरु मैं हूँ। गुरुडम का कितना जोरदार विरोध है यह। मनुष्य सदा अपूर्ण है अत: पूर्ण परमात्मा ही पूर्ण गुरु हो सकता है, अग्नि ज्ञानस्वरूप, इन्द्र प्रकाशमान और ऐश्वर्यशाली भगवान् तुम्हारे गुरु हैं। यह ईश्वररूपी गुरु सदा संग रहता है और कभी बदलता नहीं अत: ईश्वर को गुरु मानो। कैसा सुन्दर, उदारता और विशालहृदयता का उपदेश है यहां।

आगे गुरु कहता है कि तुम्हें केवल मेरी ही शिक्षा नहीं, विश्व के जड़ चेतन सबसे शिक्षा लेनी है। संकीर्ण न बनकर उदार बनना है।

प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि, द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि, विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि, सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै।

हे शिष्य तुम्हें प्रजापति के लिए देता हूँ; देव सविता के लिए देता हूँ, द्यु लोक और पृथ्वी के लिए देता हूँ, संपूर्ण ज्ञानियों विद्वनों और दिव्य शक्तियों के लिए देता हूँ, नीरोगता के लिए सब प्राणी अप्राणी के लिए तुम्हें देता हूँ। पृथ्वी से लेकर द्यु लोक तक अनुसंधान करो, जलों और सब औषिधों की खोज करो। संपूर्ण ज्ञानियों से मिलो, प्रजापति, यज्ञ और जगत्पति भगवान् एवं सृष्टि प्रसविता ईश्वर के नियमों पर चलो, प्राणी मात्र से शिक्षा लो, जड़ चेतन सबके गुण जान कर संसार में नीरोगता फैलाओ। है न सार्वभौम ज्ञान का संदेश ! सब ही विद्वानों से मिलो, संकीर्ण साम्प्रदायिकता से कितनी दूर है वैदिक विचार शैली। सभी मतमतान्तर पोखर और कुएं की तरह सीमित हैं, तो वैदिक धर्म स्वच्छ बहने वाले महानद की तरह पवित्र है। तंगदिली का यहाँ नाम नहीं, जड़ चेतन पेड़ पौधे जल सबमें ज्ञान भरा है, स्वास्थ्य और सुख है, सब की खोज करो, सबसे ज्ञान लो, दृष्टि को कैसे विस्तार में लिये जा रहा है यह वेद मंत्र ! वाह, यह हुआ उपनयन। अब रहा "वेदारंभ"। ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी अर्चना करते हैं। "वेदस्य निधि या भूयासम्" हम ज्ञान के कोष के रक्षक बनें, 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (गीता) ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है। ब्रह्मचारी ने व्रत ही लिया है ज्ञानकोष की रक्षा का; कितनी ऊँची बात है।

अगले मंत्र में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी प्रतिज्ञा कर रहे हैं मैं 'अनिराकरिष्णु' द्वेष करके बदला लेने वाला न बनूं। 'अन्नाद:, अन्न खाने वाला बनूँ। यदि विद्यार्थी राग द्वेष और झगड़ों पर जाये तो विद्या संग्रह से दूर हो जायेगा ? अन्न खाने वाले तो सब ही प्राणी हैं पर वह खाना नहीं भख लेना है जिस खाने में संयम नहीं, विवेक नहीं, खाने का उद्देश्य नहीं। मनुष्य के खाने में संयम होना चाहिए भक्ष्य अभक्ष्य का विवेक होना चाहिए और खाने का उद्देश्य जीवन रक्षा और जीवन रक्षा का उद्देश्य जन हित होना चाहिए। इसलिए प्रार्थना है कि सच्चे अर्थों में हम अन्न खाने वाले बनें। फिर है 'जीव पुत्रो ममाचार्य:' मेरा आचार्य जीवित पुत्र हो। यह क्या शिष्य गुरु को आशीर्वाद दे रहा है ? नहीं, इस मंत्र में शिष्य अपने को ही आशीर्वाद दे रहा है:—

"मेरा आचार्य ऐसा हो कि उनके पुत्र जीवित हों, भाव यह है कि कि मैं अपने गुण कर्मों से जनता में अमर बनूंगा। मेरे अमर होने से मेरे गुरु अमर पुत्र कहलायेंगे। कोई सन्तान न होते हुए भी श्री रामकृष्ण परमहंस स्वामी विवेकानन्द जी के कारण जीवित पुत्र हैं। स्वामी दयानन्द जी ने स्वामी

विरजानन्द जी को जीवित पुत्र बना दिया। इन गुरुओं के शिष्य सदा ही जीवित हैं। इन यशस्वी पुत्रों का नाम काम कभी नहीं मर सकता। भाव यह है कि मैं ऐसा बनूंगा कि यश: शरीर से सदा जीवित रहूँ और मेरा गुरु सदा जीवित पुत्र कहलाये। ये विचार हमने बहुत ही संक्षेप में टिप्पणी मात्र लिखे हैं। पूरी व्याख्या के लिए तो बहुत बड़ी पुस्तक चाहिए। अब एक दो प्रश्नों पर भी विचार करना है।

प्रश्न—क्या कन्याओं का भी उपनयन होना चाहिए ?

उत्तर—अवश्य। नर-नारी दोनों में ही बुद्धि है अत: दोनों को ही ज्ञान प्राप्ति का अधिकार है और ज्ञान प्राप्ति के लिए आरंभिक चिह्न यह है। इसलिए पुराने समय में कन्याओं का भी उपनयन होता था।

यथा:—

पुरा काले च नारीणां मौञ्जी बन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्री वाचनं तथा॥

अर्थ:—पुराने समय में स्त्रियों का भी मौञ्जी बंधन (यज्ञोपवीत के समय मूंज की करधनी) बांधा जाता था।

अर्थात् उपनयन होता था। वेदों का पढ़ाया जाना और गायत्री मंत्र का उपदेश भी होता था। इस स्मृति वचन से सिद्ध होता है कि नारियों का उपनयन मध्य काल में बंद हुआ और उन्हें शूद्रों की बराबरी में रक्खा गया। व्याकरण में 'इन्द्रवरुण भवरुद्ध।४।१।४' इस सूत्र में आचार्य से ङीष् और आनुक् पुंयोग में होता है और पुंयोग के बिना टाप् ही होता है आचार्या की पत्नी "आचार्यानी" परन्तु जो स्वयं वेद पढ़ावे वो 'आचार्या' कहलाती है। आचार्य की परिभाषा मनु जी ने की है।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
साङ्गं सरहस्यं च तमाचार्यस् प्रचक्षते॥

जो शिष्य का उपनयन कराके अंगों और उपनिषदादि रहस्यों सहित वेद पढ़ावे वो आचार्य कहलाता है। तो जब स्त्री वेद पढ़ायेगी और आचार्या कहलायेगी तो उपनीता ही तो होगी।

हर्षवर्धन के समय बाण कवि हुए। कादम्बरी गद्य काव्य उनका बहुत प्रसिद्ध है। उसमें जब राजकुमार चन्द्रापीड हिमालय पर गंधर्व देश में पहुंचता है तो शिव मन्दिर में उसने 'महाश्वेता' एक गंधर्व कन्या को देखा। महाश्वेता शिवपूजन में लगी हुई थी। बाण लिखते हैं—

'अयुग्म लोचनसकाशात् प्रसादलब्धेन चूडामणिचन्द्रमयूखजालेनेव मंडलीकृत ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम् ।'

इस पंक्ति में 'ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम् ।' महाश्वेता का शरीर ब्रह्मसूत्र से पवित्र था यह वर्णन है । यद्यपि महाश्वेता एक कल्पित पात्र है। कादम्बरी एक उपन्यास मात्र है । परन्तु छठी शताब्दी में उत्पन्न हुए सरस्वती के अवतार माने जाने वाले वाण कवि अपनी कल्पना में स्त्रियों का यज्ञोपवीत धारण करना मानते हैं ।

अब उनसे भी पहले चलिए गोभिल गृह्यसूत्र प्र २ का १ में—

'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमेनामभ्युपानयत् जयेत् सोमोऽदद् गंधर्वायेति ।'

वस्त्राच्छादित, यज्ञोपवीत पहिनी हुई कन्या को मंडप में लावे और वर बोले 'सोमोऽदद् गंधवार्य' आदि वेदमंत्र ।

इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या होगा ।

भगवान् श्री रामचन्द्र जी जब महारानी कौशल्या से वनवास की आज्ञा लेने गए हैं उस समय—

सा क्षौमवसना दृष्टा नित्यं व्रतपरायणा ।
अग्निं जुहोति स्म तदा मंत्रवत् कृतमंगला ।।

रेशमी (और अलसी के बने) वस्त्र पहने हुए प्रसन्नचित्त नित्य व्रत में लगी हुई, उस समय हवन कर रही थीं । मंत्रों सहित और स्वस्तिवाचन करके वेदमंत्र सहित यज्ञ करने वाली महारानी कौशल्या क्या बिना यज्ञोपवीत के ही यज्ञ कर रही थीं । एक पामर पंडित ने लिखा है कि यहाँ 'जुहोति' क्रिया णिच् अंतर्भावित है अर्थात् हावयति के अर्थ में जुहोति है । वह हवन कर नहीं, पंडितों से करा रही थी । इन पंडित जी की बुद्धि पर दया आती है । क्या आदि कवि वाल्मीकि जी यहाँ हावयति का प्रयोग नहीं कर सकते थे ? क्या इन पंडित जी से उनकी संस्कृत निर्बल थी? फिर उन्होंने ऐसा संदिग्ध प्रयोग क्यों किया ? ये सब कल्पनायें व्यर्थ हैं । उस समय देवियाँ वेदादि का पूर्ण अधिकार रखती थीं और वे 'ब्रह्मवादिनी' कहाती थीं । दूसरी सद्योवधू थीं जो शास्त्रीय कामों में कम और गृहकार्यों में अधिक भाग लेतीं थीं ।

ईसाई मत में कोई स्त्री पादरी, बिशप, डीन, पोप कुछ नहीं बन सकती । मुसलमानी मत में स्त्री इमाम खलीफा नबी नहीं बन सकती । यह विशेषता है वैदिक धर्म की जो इसमें सैकड़ों ऋषिकायें, सहस्रों उपाध्यायें, आचार्यायें हुई हैं और हो सकती हैं । परन्तु ये अदूरदर्शी पंडित ऊट-पटांग अर्थ करके स्त्रियों को शूद्रों की पंक्ति में बिठाकर अपने धर्म का अपमान कर रहे हैं ।

ईश्वर इन्हें सद्‌बुद्धि दे।

प्रश्न—क्या शूद्र के बालकों का भी यज्ञोपवीत होना चाहिए ?

उत्तर—जन्मना कोई शूद्र नहीं है। शूद्र घर में उत्पन्न हुए बालक भी गुरुकुलों में जायें और उनकी जाँच करके आचार्य उन्हें जैसा योग्य समझेंगे वैसा करेंगे।

प्रश्न—यज्ञोपवीत कितने पहनने चाहिए क्योंकि कुछ लोग एक पहनते हैं और कुछ दो धारण करते हैं ?

उत्तर—'यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्त्ते च कर्मणि।
तृतीयमुत्तरीयार्थं वस्त्राभावे तु दर्शितः॥
(विश्वामित्रस्मृति)

(२) उपवीतम् वटोरेकं द्वे तथेतरयोः स्मृतः (मदन पारिजातः)

(३) ब्रह्मचारिण एकं स्यात् स्नातस्य द्वे बहूनि वा।
तृतीयमुत्तरीयार्थं वस्त्राभावे तु दर्शितः (स्मृत्यर्थसार)

अर्थ—श्रौत और स्मृति कर्म में दो यज्ञोपवीत धारण करने चाहिए। उत्तरीय (उपरना) न हो तो तीन यज्ञोपवीत धारण कर लें।

प्रश्न—यज्ञोपवीत का वेद में संकेत नहीं अतः यह अवैदिक है ?

उत्तर—वेद में उपवीतपृष्ठ, उपनीता आदि शब्द कई स्थानों पर आये हैं जो सिद्ध करते हैं कि पुरुष और स्त्री दोनों उपवीत धारण करने वाले हों। मनुस्मृति और अन्यग्रन्थ वेद के इन्हीं शब्दों की व्याख्यायें हैं जो यज्ञोपवीत का पूरा रूप दर्शाती हैं।

यज्ञोपवीत और वर्गवाद

एक पुंगवबुद्धि राजनैतिक नेता श्री मधु लिमये ने श्री जे. पी. के जनेऊ तोड़ आन्दोलन का समर्थन करते हुए कहा है कि जनेऊ से वर्गभेद स्थापित होता है अतः जनेऊ उतार देने चाहिए। भौतिकवाद की धूलि से धूसरित ये राजनैतिक नेता धर्म में टाँग अड़ाकर अपना उपहास कराते हैं। इनसे पूछा जाये कि जनेऊ के कारण वर्गभेद फैलता है तो ग्रेजुएटों के गाउन, जजों के चोगे और फौजियों की वर्दी भी उतरवाओगे क्या ? हे बुद्धिहीन नेताओ, ईश्वर तुम्हें सुबुद्धि दे, वर्गभेद तो प्रकृति ने कर रखा है। बासमती का धान, हंसराज का धान, उसवा का धान आदि धानों की सैकड़ों किस्में हैं। सैकड़ों प्रकार का आम होता है, दसियों प्रकार का सेब। क्या इन सब वर्ग भेदों को मिटाकर संसार को प्रलय अवस्था में लाना चाहते हो ?

यज्ञोपवीत चिह्न है व्रत लेने वालों का, जो व्रत पूरा कर चुके है (संन्यासी) वा जो व्रत लेने की योग्यता नहीं रखते (अल्पबुद्धि जन) उनके लिए यज्ञोपवीत नहीं है। यह छुटाई बड़ाई का चिह्न नहीं है, किन्तु व्रत पालन की सदा याद दिलाने के लिए ज्ञान, कर्म, उपासना के स्मारक रूप तीन धागे हैं। जो जन इस व्रत को शिक्षा और सदाचार द्वारा पूर्ण करने को व्रती बनते हैं उनको यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थी यज्ञोपवीत अवश्य धारण करें। शूद्र जो संख्या में बहुत ही कम रह जाते हैं वे जनेऊ पहनने को वाध्य नहीं हैं।

उक्त वर्ण जन्म से नहीं, किन्तु गुण, कर्म, स्वभाव से होते हैं। गुण, कर्म स्वभाव का यह भेद सृष्टि में सदा रहा है और रहेगा। सबकी मानसिक शक्ति और कार्यशक्ति एक सी नहीं होती। स्वभावों में भी नानाप्रकार के भेद है। मनुष्यों में ही नहीं, पशु पक्षियों में भी स्वभाव का भेद पाया जाता है। अतः अपने स्वार्थों के लिए लाखों वर्ष की मंजी हुई परम्पराओं का विरोध करके जनता को कुमार्ग में मत भटकाओ। सब रीति नीतियों का नपना तुम्हारी छोटी बुद्धि रूप गज नहीं हो सकता। इन परम्पराओं की तोल योगीश्वर साक्षात्कृतधर्मा ऋषि ही कर सकते हैं।

गायत्री मंत्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

इस मंत्र में जो प्रथम (ओ३म्) है उसका अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है, वहीं से जान लेना। अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं। "भूरिति वै प्राणः" यः प्राणयति चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः" जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है उस प्राण का वाचक होके "भूः" परमेश्वर का नाम है। "भुवरित्यपानः" "यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः" जो सब दुःखों से रहित, जिसके सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इसलिए उस परमेश्वर का नाम "भुवः" है। "स्वरिति व्यानः" यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः" जो नानाविधि जगत् में व्यापक होके सब का धारण करता है इसलिए उस परमेश्वर का नाम स्वः है। ये तीनों वचन तैत्तिरीय आरण्यक (प्रपा० ७। अनु० ५) के हैं। (सवितुः) "यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता तस्य"

जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्य का दाता है (देवस्य) 'यो दीव्यति 'दीव्यते वा स देव:' जो सर्व सुखों का देनेहारा और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं उस परमात्मा का जो (वरेण्यम) "वर्त्तु मर्हम्" स्वीकार करने योग्य, अति श्रेष्ठ (भर्ग:) "शुद्ध स्वरूपम्" शुद्धस्वरूप और पवित्र करने वाला चेतन ब्रह्मस्वरूप है (तत्) उसी परमात्मा के स्वरूप को हम लोग (धीमहि) "धरेमहि" धारण करें। किस प्रयोजन के लिए कि (य:) "जगदीश्वर:" जो सविता देव परमात्मा (न:) "अस्माकम्" हमारी (धिय:) "बुद्धी:" बुद्धियों को (प्रचोदयात्) "प्रेरयत्" प्रेरणा करे अर्थात् बुरे कामों से छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे।"

"हे परमेश्वर! हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप! हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव! हे अज, निरंजन, निर्विकार! हे सर्वान्तर्यामिन्। हे सर्वाधार जगत्पते! सकल जगदुत्पादक! हे अनादे विश्वम्भर! सर्वव्यापिन्! हे करुणामृतवारिधे! सवितुर्देवस्य तव यदोम्भू र्भुव: स्वर्वरेण्यं भर्गोऽस्ति तद्वयं धीमहि धरेमहि दधीमहि ध्यायेम वा। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह। हे भगवन! य: सविता देव: परमेश्वरो भवानस्माकं धिय: प्रचोदयात् स एवास्माकं पूज्य उपासनीय इष्टदेवो भवतु नातोऽन्यं भवत्तुल्यं भवतोऽधिकं च किञ्चत् कदाचिन्मन्यामहे।"

हे मनुष्यो जो सब समर्थों में समर्थ, सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्त स्वभाव वाला, कृपासागर, ठीक-ठीक न्याय का करनेहारा, जन्म मरणादि क्लेश रहित, आकार रहित, सब के घट-घट का जानने वाला, सब का धर्त्ता, पिता, उत्पादक, अन्नादि से विश्व का पोषण करनेहारा, सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता शुद्ध स्वरूप और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है उस परमात्मा का जो शुद्धचेतन स्वरूप है उसी को हम धारण करें। इस प्रयोजन के लिए कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामीस्वरूप हमको दुष्टाचार, अधर्मयुक्त मार्ग से हटा के श्रेष्ठाचार, सत्य मार्ग में चलावे, उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग नहीं करें।

क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश और सब सुखों का देने हारा है।

(सत्यार्थप्रकाश से उद्धृत)

खोजपूर्ण लेख

—स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया

महर्षि पतञ्जलि ने शब्दानुशासन या व्याकरण अध्ययन करने के पाँच प्रयोजन अपने महाभाष्य में गिनाये हैं—रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्—अर्थात् (१) वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण पढ़ना, (२) ऊह भी प्रयोजन है, अर्थात् विभक्ति आदि का परिवर्तन; वेद में मंत्र सभी लिङ्गों में और सभी विभक्तियों के सहित नहीं पढ़े गए, और इसलिए यज्ञादि कर्मों में जब उनका प्रयोग होगा, तो उन्हें उचित रीति से परिवर्तित करना होगा। (३) व्याकरण स्वयं एक वेदांग है. अत इस निमित्त से भी व्याकरण जानना चाहिए (अगम)। (४) लाघव के निमित्त से भी व्याकरण पढ़ना चाहिए. और अन्त में (५) सन्देह-निवृत्ति के निमित्त व्याकरण जानना चाहिए। लगभग ये ही पाँचों प्रयोजन अन्य उपांगों और वेदांगों के अध्ययन के भी हैं। वेद का आशय समझने के लिए छन्द, ज्योतिष्, रसायन, भौतिकी, प्राणिशास्त्र, आयुर्वेद आदि अनेक विद्याओं का जानना आवश्यक है।

निरुक्त के आचार्य यास्क के अनुसार ऋचायें तीन प्रकार की होती हैं—"तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः आध्यात्मिक्यश्च।" (निरुक्त ७।१)। इनमें से, परोक्षरूप से संबोधित मंत्रों की नामों की सब विभक्तियों में रचना हुई है, क्रिया में केवल प्रथम पुरुष का प्रयोग हुआ है। प्रत्यक्ष रूप से संबोधित मन्त्रों की रचना मध्यम पुरुष में है, और सर्वनाम "त्वम् (तू)" का प्रयोग किया गया है। आध्यात्मिक (स्वयं को संबोधित) मंत्रों में उत्तम पुरुष 'अहम्' सर्वनाम का प्रयोग है।

इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में परोक्ष-निर्देश के अन्तर्गत प्रथम पुरुष का प्रयोग करते हुए ईश्वर के सम्बन्ध में इस प्रकार के वाक्य हैं—

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स,
दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम्।

वह प्रभु नीचे-ऊपर, पीछे-आगे, बायें-दायें, छहों दिशाओं में व्याप्त है।

इसी बात को अहंकार-आदेश के अंतर्गत उत्तम पुरुष का प्रयोग करते समय इस प्रकार कहेंगे—

अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं
दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति ।।

अर्थात् मैं नीचे-ऊपर हूँ, मैं ही पीछे-आगे हूँ, और मैं ही दायें-बायें हूँ। छहों दिशाओं में सर्वत्र मैं ही हूँ।

इसी प्रकार एक आत्म-आदेश होता है, जिसमें आत्मा शब्द के द्वारा आत्म-तत्त्व की छहों दिशाओं में विद्यमानता इंगित की जाती है—

एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा
दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति ।।

अर्थात् आत्मा ही नीचे-ऊपर है, आत्मा ही पीछे-आगे है, आत्मा ही दायें-बायें है, इस प्रकार आत्मा ही सर्वत्र है।

(छान्दोग्य ७।२५)

वेद में प्रत्यक्ष निर्देश भी है, जिसमें 'तू' या मध्यम पुरुष के प्रयोग से प्रभु स्मरण किया गया है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।

(ऋ० ८।९८।११)

अर्थात् हे शतक्रतु प्रभो ! तू ही हमारा पिता है, तू ही माता है।

इसी प्रकार दैवत प्रयोग भी है, जिसमें प्रभु को अनेक दैव विशेषणों (अग्नि, इन्द्र आदि) से स्मरण किया गया है, जैसे मनसा परिक्रमा में —

प्राची दिगग्निः, दक्षिणा दिगिन्द्रो, प्रतीची दिग्वरुणो,
उदीची दिक् सोमो, ध्रुवा दिग्विष्णुः ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिः।

अर्थात् प्राची दिशा में जो अग्नि है, दक्षिण में वही प्रभु इन्द्र है, पश्चिम में वरुण, उत्तर में सोम, नीचे की ओर विष्णु और ऊर्ध्व की ओर बृहस्पति। (छः दिशाओं में ६ दिव्य गुणों से स्मरण)।

इसी प्रकार परोक्ष-प्रदेश के अन्तर्गत 'तद्' के प्रयोग से भी प्रभु का स्मरण है, इसे हम परोक्ष-दैवत आदेश कह सकते हैं—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।।

(यजु० ३२।१)

अर्थात् वही प्रभु अग्नि है, आदित्य है, वायु है, चन्द्र है, शुक्र है, ब्रह्म है,

आपः है और वही प्रजापति है।

इसी प्रकार शं-दैवत आदेश है जिसमें दिव्य गुणों से युक्त प्रभु से कल्याण की याचना भी की गयी है—जैसे

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥

(ऋ० १।६०।६)

इसी प्रकार से स्वस्ति-दैवत निर्देश है। वेदार्थ करने और समझने में इन आदेश पद्धतियों पर ध्यान रखने से बहुत-सी शंकाओं का निराकरण सरलता से हो जाता है। गीता अहंकार निर्देश या अस्मद्-निर्देश की पद्धति का विस्तृत उदाहरण है।

वेद श्रुति है, और श्रुतिशास्त्र से तो भिन्न होती ही है, और कल्प और स्मृति से भी। श्रुति में शास्त्र का निस्संदेह मूल है, स्मृति है और कल्प का भी बीजांकुर है, पर श्रुति में शास्त्र, कल्प और स्मृति का पौधा या उन्नत वृक्ष देखना भूल होगी।

भारतीय परम्परा में वेद अपौरुषेय हैं, सृष्टि भी अपौरुषेय है। ब्रह्म की महत्ता इसी में है कि वह सृष्टि का भी निमित्त कारण है, और शास्त्र की भी वही योनि है—इसी लिए तो ब्रह्मसूत्रों में कहा है—जन्माद्यस्य यतः और शास्त्र-योनित्वात्। यह सृष्टि मनुष्यों के लिए भी है, और मनुष्येतर प्राणियों के लिए भी। मनुष्येतर प्राणियों के लिए सृष्टि-उपयोग की प्रक्रिया मनुष्य की प्रक्रिया से भिन्न है। दोनों ही (मनुष्य एवं अन्य प्राणी) परमात्म-प्रदत्त ज्ञान पर निर्भर हैं। पशुओं को यह ईश्वरीय ज्ञान उनकी उपयोगिता की दृष्टि से 'पूर्णरूप' से मिला है, इसलिए जो कुछ भी पशु व्यवहार करते हैं—वह ईश्वर प्रदत्त अन्तः प्रेरणा से। मनुष्य को शिक्षित होना पड़ता है, और उसका आदि गुरु परमेश्वर है—पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। और इसी प्रसंग में मनुष्य को ईश्वर की ओर से श्रुतियों का ज्ञान प्राप्त हुआ, और मनुष्य ने बड़ी तपस्या और पुरुषार्थ से इन श्रुतियों को वेद-संहिताओं के रूप में अब तक सुरक्षित रखा है।

जब मनुष्य के पास कोई भाषा न थी, और जब सृष्टि के विस्तृत भंडार को कोई भी नाम नहीं दिए गए थे, उस समय मानव को वेद की ऋचायें मिलीं, और इन ऋचाओं को स्वतः नैसर्गिक रूप से समझने की दिव्य प्रतिभा भी मिली। (जैसे आज भी मधु मक्खियों को अपने निमित्त पर्याप्त ज्ञान भी मिला हुआ है, परस्पर ज्ञान व्यक्त करने की विलक्षण प्रतिभा भी मिली है और इस ज्ञान

और प्रतिभा के आधार पर सामुदायिक रूप से मक्खियां फूलों से पराग का चयन करती हैं, और फिर उन रसों में से मधु और मोम पृथक् करने में समर्थ होती हैं।)

ऐसी कल्पना है कि सर्ग के आदि में जो मनुष्य अवतीर्ण हुए उनमें भी ऐसी ही नैसर्गिक प्रतिभा थी। ईश्वर प्रदत्त वाणी को उन्होंने उस दिव्य प्रतिभा से ही सुना, जाना और समझा। न कोई उस समय व्याकरण था, न निरुक्त, न निघण्टु या शब्दकोश, विलक्षण दैवी प्रतिभा थी। मनुष्य को शब्द भी मिले, शब्दार्थ भी मिला (विलक्षण नैसर्गिक शब्दार्थ, मानो शब्द स्वयं अपने अर्थ का बोध कराता हो) और शब्द और शब्दार्थ का संबंध भी। सर्ग के आदि में जिस व्यक्ति-समूह को यह दैवी प्रतिभा प्राप्त थी, वे साधारण जंगली व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न थे। वे ज्ञान के आविर्भाव के आदि प्रवर्त्तक हुए—वह समाज भी एक भिन्न समाज रहा होगा जिसकी आज कल्पना करना अति कठिन है। साधारण इतिहासज्ञ तो इस घटना को केवल कल्पित, अयथार्थ और असम्भव मानेंगे। पर आस्तिकों की ऐसी ही धारणा है कि जब यह धरती रहने योग्य हो गयी, और मनुष्य अवतीर्ण हुआ—तो प्रथम चरण में अन्य साधारण मनुष्यों के साथ एक ऐसा समाज भी अवतीर्ण हुआ, जिसके द्वारा वेद की ऋचाओं का स्वतः आविर्भाव हुआ, और जिसमें वेदार्थ समझने को स्वाभाविक अन्तःप्रेरित प्रतिभा थी।

वेद के शब्दों के अपने सहज अर्थ थे, जिनकी प्रतीति उस समय के व्यक्तियों को (जिन्हें उस समय की शब्दावली में विप्र, ऋषि, कवि, कारु आदि कहा जाता था) उसी नैसर्गिकता से होती थी, जैसी पशु-पक्षियों को अपनी याथातथ्य 'भाषा' से—ये पशु बिना व्याकरण, कोष, शिक्षा-दीक्षा के अपनी भाषा का परिज्ञान प्राप्त करते हैं, और भाषा का व्यवहार भी करना सीखते हैं।

सायण और अन्य आचार्य भी वेद को अपौरुषेय मानते हैं। वेद के ईश्वरीय होने में जो अन्तः साक्षी महर्षि दयानन्द ने दी है, वही सायण ने भी। सायण भी ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका में 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः' (१०।९०।९) मंत्र प्रस्तुत करते हैं। 'इन्द्रं मित्रं वरुणं' (ऋ० १।१६४।४६) मंत्र में इन्द्र, मित्र, वरुण आदि शब्दों को परमात्मा का ही सूचक बताते हैं। 'यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः। तथा सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते)। परमात्मा भी तो पुरुष या पुरुष विशेष है, इसलिए वेद भी पौरुषेय हैं, किन्तु कर्म-फल-रूप शरीरधारी किसी व्यक्ति स उनका बनाया जाना नहीं पाया जाता इसलिए वे अपौरुषेय हैं। सायण के शब्दों में—

वेदस्यापि परमेश्वर निर्मितत्वेन पौरुषेयत्वात् ।
शरीरधारि पुरुष निर्मितत्वाभावाद पौरुषेयत्वमिति चेत् ।

श्रुतिवाक्य प्रारम्भकाल में अव्याकृत थे। इनका व्याकरणबोध तो उस समय बना जब अन्त:प्रेरणा से ही इनको समझने की क्षमता का कालान्तर में ह्रास हो गया। सायण के शब्दों में—

'अग्निमीले पुरोहितं' इत्यादि वाक्य पूर्वस्मिन्काले पराची समुद्रादि ध्वनिवेदकात्मिका सती अव्याकृता प्रकृतिः प्रत्ययः पदं वाक्यमित्यादि विभागकारिग्रंथरहिता आसीत् ।

व्याकरण तैयार होने लगे जिनका प्रयोजन वेद की रक्षा करना था, और वेद के शब्दार्थ समझने में सहायता करना था। वररुचि के व्याकरण-वार्तिक में भी जैसा कहा है—'रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्' (पतंजलि महाभाष्य), जैसा हम आरम्भ में कह आये हैं।

हम कह चुके हैं कि ऋचाओं के आविर्भाव के समय तो ऋषियों को अन्त: प्रेरणा से मंत्रार्थ का उदबोधन होता था, और उस उदबोधन के आधार पर ही कुछ काल बीतने पर उन्होंने सृष्टि के पदार्थों को नाम देने आरम्भ किए। वेद के मूलशब्द यौगिक थे, अब ये योगरूढ़ि बनने लगे। शास्त्रकाल में ये शब्द पारिभाषिक बन गए और अनेक अर्थों में इस प्रकार ये रूढ़ि हो गये। जब तक शब्द यौगिक या योगरूढ़ि रहते हैं, इनके अर्थ बहुव्यापी होते हैं। इस बहु-व्याप्ति की तीन प्रक्रियायें सामान्यत: मानी जाती रही हैं (१) याज्ञिक प्रक्रिया (२) आधिदैविक प्रक्रिया और (३) आध्यात्मिक प्रक्रिया।

अध्यात्माधिदैवताधियज्ञाभिधायिनां मंत्राणामर्थाः परिज्ञायन्त इति (दुर्गाचार्य, निरुक्त वृत्ति १।१८)

'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेक—शक्तिः सन्नधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं च आत्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्त्तते इति।

(महाभाष्य १।१।२६,२७ पर भर्तृहरि व्याख्या)

वेदार्थ की यह त्रिविध प्रक्रिया कुछ परिवर्तित रूप में उपनिषदों में भी अनेक प्रक्रियाओं में व्यक्त की जाने लगी, जैसे—तैत्तिरीय उपनिषद् में अधि-लोकं, अधिज्यौतिषं, अधिविद्यं, अधिप्रजं और अध्यात्मम्, जबकि पूर्वरूप, उत्तर रूप, संधि और संधान का वर्णन करना था—

	अधिलोक	अधिज्यौतिष	अधिविद्य	अधिप्रज	अध्यात्म
पूर्वरूप	पृथिवी	अग्नि	आचार्य	माता	अधरहनु
उत्तर रूप	द्यौ	आदित्य	अन्तेवासी	पिता	उत्तरहनु
संधि	प्रकाश	आप	विद्या	प्रजा	वाक्
संधान	वायु	वैद्युत	प्रवचन	प्रजनन	जिह्वा

इसी प्रकार की विविध प्रक्रियाओं का प्रयोग निम्न दो मंत्रों के अर्थों में विशेषरूप से पाया जाता है—

चत्वारि शृङ्गा: त्रयो अस्य पादा द्वेशीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश (ऋ० ४।५८।३)

(क) वैदिक प्रक्रिया में इस मंत्र की व्याख्या इस प्रकार है—

चत्वारि शृङ्गा:—चार वेद (ऋग्, यजु:, साम, अथर्व)

त्रय:पादा:— प्रात: सवन, मध्याह्न सवन, सायंसवन

द्वे शीर्षे— ब्रह्मौदन, प्रवर्ग्य

सप्तहस्तास:— सप्तछन्दांसि

त्रिधा बद्ध — मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प (तीन प्रकार से बद्ध)

(ख) व्याकरण प्रक्रिया—

चत्वारि शृंगा:—नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात

त्रय:पादा:— भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल

द्वे शीर्षे— नित्य और उत्पाद्य (अनित्य) शब्द

सप्तहस्तास:—सात विभक्तियाँ

त्रिधा बद्ध:—उर, कण्ठ और शिर में बंधा।

(ग) सूर्य पक्ष में—

चत्वारि शृङ्गा—चार दिशायें

त्रय:पादा:— ऋग् द्वारा प्रथम अह्न (पूर्वाह्न) में, यजु: द्वारा मध्याह्न में और साम द्वारा अपराह्न में (गमन साधनत्वात्)

द्वे शीर्षे— अहो-रात्रि

सप्तहस्तास:—सप्तरश्मय: (अथवा षड्ऋतु और एक साधारण ऋतु)

त्रिधा बद्ध:—ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त, इन तीन स्थानों पर बद्ध।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
ऋ० १।१७४।४५)

निरुक्त में इसकी व्याख्या में—

(१) व्याकरण में चत्वारि पदानि—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चारों वाणी के परिच्छेदक समूह हैं। मनीषी ब्राह्मण ही इनको जानते हैं। वाणी के तीन भाग गुफा में छिपे होने के कारण चेष्टा नहीं करते, वाणी का जो चौथा भाग है उतने का ही प्रयोग (अवैयाकरण) मनुष्य करते हैं।

(२) कुछ आचार्य 'चत्वारि पदानि' से अभिप्राय, ओं, भूः, भवः और स्वः, अर्थात् तीन महाव्याहृतियाँ और प्रणव से मानते हैं। (तैत्तिरीय उपनिषद् में भूः, भुवः, स्वः और महः ये चार व्याहृतियाँ विशेष महत्त्व की समझी गयी हैं, (महा व्याहृति का विशेषज्ञ महाचमस्य था) शिक्षावल्ली, अनुवाक ५

(३) याज्ञिक लोग 'चत्वारि पदानि' से अभिप्राय मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण इन तीन की भाषायें और चौथा लौकिकी (अर्थात् साधारण मनुष्यों की भाषा) ऐसा समझते हैं। लौकिकी का नाम व्यावहारिकी भी है—भोगविषया गामानयेत्यादि रूपा व्यावहारिकी ऐसा सायण ने दिया है।

(४) नैरुक्त पुरुषों ने 'चत्वारि पदानि' से अभिप्राय ऋग्, यजुः, सामानि, और व्यावहारिकी दिया है।

(५) ऐतिहासिक पुरुष सर्प, पक्षी, क्षुद्र सरीसृपों (कीड़ों) और व्यावहारिक (अर्थात् मनुष्यों की) वाणियां—इस प्रकार चार पद मानते हैं—सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्र सरीसृपस्य च चतुर्थी व्यावहारिकीत्यैतिहासिका—सायण

(६) 'चत्वारि पदानि' से अभिप्राय तीन लोकों में बोली जाने वाली वाणियां और चौथी पशुओं के व्यवहार में आने वाली इन चार से भी है (१) भू, अग्नि, और वाणी—रथन्तर (२) अन्तरिक्ष में वायु और वाणी वामदेव (३) द्यौ में आदित्य और वाणी वृहती (४) पशुओं में

(७) आत्मवादियों की दृष्टि से (क) पशुओं की वाणी, (ख) तूणव ध्वनि (ग) मृगों की और (घ) आत्मध्वनि ये चार पद हैं—

पशुषु तूणवषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मवादिनः।

(८) मातृक पुरुष के अनुसार चार पद ये हैं—

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी (क) परा केवल नादात्मिका है—एकैव नादात्मिका वाक्मूलाधारादुदिता सती परेत्युच्यते। (ख) योगियों द्वारा अनुभूत

वाणी विशेष पश्यन्ती कहलाती है, यह हृदयगामिनी है—नादस्य च सूक्ष्मत्वेन दुर्निरूपत्वात् सैव हृदयगामिनी पश्यन्तीत्युच्यते योगिभिर्द्रष्टुं शक्यत्वात्। (ग) यही हृदय से निकली वाणी जब बुद्धिगम्या होती है तो मध्यमा कहलाती है—सैव बुद्धिगम्या विवक्षां प्राप्ता मध्यमेत्युच्यते। मध्यमे हृदयाख्ये उदीयमानत्वात् मध्यमाया: (घ) यही वाणी जब कण्ठ, तालु, मूर्धादि स्थानों से बोली जाती है, तो वैखरी कहलाती है—अथ यदा सैव वक्त्रे स्थिता ताल्वोष्ठादि व्यापारेण बहिराभिगच्छति तदा वैखरीत्युच्यते।

मनीषी ब्राह्मण और योगी, ऋषि मुनि तो चारों वाणियों को जानते हैं, किन्तु साधारण मनुष्य केवल वैखरी का व्यवहार करते हैं।

हमने यहां केवल दो मंत्रों का उल्लेख किया, जिनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेद मन्त्रों का एक ही अर्थ अभिप्रेत हो, ऐसा नहीं है। सभी आचार्य यह मानते रहे हैं कि वेद की ऋचाओं के अर्थ विविध दृष्टियों से किए जा सकते हैं। स्वामी दयानन्द ने इस मंत्र का अर्थ करते हुए नैरुक्तिक मत का ही एक मात्र उल्लेख किया है, अर्थात् नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात का। (निरुक्त १३।९) यह स्मरण रखना चाहिए कि निरुक्त के १३ और १४ अध्याय परिशिष्ट हैं, और संभवतया यास्क द्वारा नहीं रचे गए। 'चत्वारि शृंगा: त्रयो अस्य पादा:' वाला ऋग् का मंत्र (४।५८।३) भी इसी परिशिष्ट (१३।९) में है।

यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि वेद श्रुति है न कि शास्त्र, और इस दृष्टि से शास्त्रीय विवरण से श्रुति को मुक्त रखना होगा। श्रुति में ऐसे वर्गीकरण (जैसे पद समूह चार होंगे—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात) कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। श्रुति शास्त्र का मूल है, किन्तु शास्त्र नहीं हैं। यह ठीक है कि शास्त्र और श्रुति के बीच में भेदक भित्ति खींचना सर्वदा आसान नहीं है।

श्रुति के सरलार्थों की पृष्ठ भूमि में रहस्य भी समाविष्ट है। मैं एक उदाहरण यजुर्वेद के मंत्र का लेता हूँ। मंत्र यह है—

पृथिव्याऽहमुदन्तरिक्षमाऽ रुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ (यजु० १७।६७)

इस मंत्र का साधारण अर्थ तो यह है कि मैं पृथिवी से उठकर अन्तरिक्ष की ओर बढ़ूं अन्तरिक्ष से उठकर द्यु लोक को और फिर द्यु लोक से ऊपर उठकर उस लोक में पहुँचूं जहाँ स्व: (आनन्द) और ज्योति (ज्ञान) है।

यह मंत्र योग से सम्बन्ध रखता है, किन्तु योग की दृष्टि से भू, अन्तरिक्ष और द्यौ ब्रह्मांड के विभाग नहीं हैं। यह उड़ान जमीन से आकाश या सूर्य की

ओर नहीं है। योगी की यात्रा अन्दर की ओर है—अन्नमय कोश इसकी पृथिवी हैं, प्राणमय कोश इसका अन्तरिक्ष है, और मनोमय कोश इसका द्यौ है—इन तीनों को अतिक्रान्त करके इस योगी को उस लोक में पहुँचना है जिसे आनन्द-मय और ज्ञानमय कोश कहते हैं, और जिसकी पुटिका के बीच में दोनों बसते हैं, मैं और मेरा प्रभु दोनों अन्तर्गुहा में। अणिमादि की सिद्धि से या अन्तरिक्ष-यानों की सहायता से ऊपर ब्रह्माण्ड में भ्रमण करना यहाँ अभिप्रेत नहीं है। बाहर के संसार के शब्दों को अपने भीतर के जगत् के लिए प्रयोग करना ही रहस्य या अध्यात्म है। अध्यात्मलोक की न कोई भाषा है, न व्याकरण, न निरुक्त। अपने दिन-प्रतिदिन के व्यवहार की भाषा का ही प्रयोग वहाँ भी करना पड़ता है, यद्यपि उन शब्दों की व्यञ्जना और अभिधा लौकिकता से बिलकुल भिन्न होती है। आन्तरिक जगत के प्रकाश, स्वाद और सुख व्यवहार जगत् के प्रकाश, स्वाद और सुखों से सर्वथा भिन्न है, पर उन्हें व्यक्त करने की कोई अलग भाषा नहीं है।

भिन्न-भिन्न विद्याओं के ज्ञापन के लिए वेद के चार या तीन भाग हैं। प्रत्येक वेद में ऋचायें भी हैं, यजु भी और साम भी। स्वामी दयानन्द कहते हैं कि 'ऋग्भिस्तुवन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिर्गायन्ति' अर्थात् ऋचाओं के द्वारा स्तुति होती है, यजुओं के द्वारा यज्ञ किया जाता है, और सामों के द्वारा गाया जाता है। एक ही मंत्र तीनों कामों में भी आ सकता है, और तब एक ही मंत्र की संज्ञा क्रमशः ऋग्, यजुः या साम हो सकती है। निरुक्त में भी लगभग ऐसी ही बात कही गयी है पदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति (निरुक्त, १३।७) अर्थात् ऋचाओं से शास्त्र पढ़ते हैं, यजुओं से यजन करते हैं और सामों के द्वारा स्तुति करते हैं, (ऋक् शब्द के भी अनेक अर्थ हैं। पातञ्जल महाभाष्य में ऋक् का अर्थ व्याकरण किया हुआ है और शबर स्वामी ने मीमांसासूत्र १।२।४६ में ऋक् का अर्थ यज्ञपरक भी किया है। यजुः और साम के भी इसी प्रकार कई अर्थ हैं।)

पुनश्च ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया गया है। जब पदार्थों के गुण मालूम हो गए तो उनको व्यवहार में लाकर व्यक्ति और समष्टि का उपकार करना भी अभीष्ट है। यह यजुर्वेद संहिता हुई 'यजुर्वेदे विदित-गुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रिययाऽनेकविधोपकार ग्रहणाय विधानं कृतमस्ति' (दयानन्द)। सामवेदे में ज्ञान और क्रिया के अनन्तर फलप्राप्ति तक का प्रयास है—सामवेदे ज्ञान क्रिया विद्ययोर्दीर्घ विचारेण फलावधि पर्य्यन्तं विद्याविचारः। इन तीनों के अनन्तर पूर्तिकरण, रक्षा और उन्नति इनका समावेश अथर्ववेद में है। यह हैसंहिताओं का वर्गीकरण ये हैं वेद के चार विभाग, पर संहिता विभाग के इन चार अभिप्रायों को उदारता और व्यापकता से देखना पड़ेगा

और तब यह अनुभूति हो सकेगी कि सभी मंत्र ऋग् भी हैं, यजु: भी हैं, साम भी हैं और अथर्व भी। संहिताओं का जिस रूप में वर्गीकरण और विभाजन हमें आज मिलता है, वह कृत्रिम (या पौरुषेय) विभाजन ही है। सम्पूर्ण वेद ज्ञान तत्त्वत: एक होते हुए भी सुविधा की दृष्टि से हमने इसे चार विभागों में विभाजित कर रखा है। ऋषि ने स्वयं कहा है—यतो विद्या विधायकानां मंत्राणां प्रकरणश: पूर्वापर सन्धानेन सुगमतया तत्रस्था विद्या विदिता भवेयुरे-तदर्थं संहिता करणम्।

वेदों के संहिताकरण की प्रक्रिया कभी समाप्त न होगी। लोग समय समय पर अपने अपने अभीष्टों की दृष्टि से वेदों के संहिताकरण का लघु या दीर्घ प्रयास करते ही रहेंगे। ऋषि ने स्वयं 'स्वस्तिवाचनम्' और 'शान्तिकरणम्' शीर्षकों में चारों वेदों के मंत्रों को लेकर सहिताकरण का एक अपूर्व प्रयास किया है, और आर्याभिविनय: भी इसी प्रकार का संकलन या संहिताकरण है।

गान की दृष्टि से भी संहिताकरण किया गया है। महर्षि कहते हैं—त्रिधा गान विद्या भवति, गानोच्चारण विद्याया द्रुत मध्यम विलम्बित भेद युक्तत्वात्। साम्प्रतिक वेदपाठी अथर्ववेद मन्त्रों का पाठद्रुतवृत्ति से करते हैं, मानो वे ऋग् पाठ कर रहे हों—कहा जाता है कि ये अथर्ववेदी मूलत: ऋग्वेदी ही थे। मराठा साम्राज्य के अभ्युदय काल में पेशवाओं ने लुप्तप्राय अथर्ववेद के पठन-पाठन का पुनरुद्धार किया। आजकल के अथर्ववेदी इसी ऋग्वेदी परम्परा के हैं।

मंत्रों के गान मात्र या पाठ मात्र से कोई सिद्धि नहीं होती है—कहा भी है—यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। निरुक्त में स्पष्ट कहा है कि ज्ञान की प्रशंसा होती है और अज्ञान की निन्दा। (१।१७)। इसी प्रकार—

स्थाणुरयं भारहार: किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् (१।१८)

अर्थात् वह केवल भार उठाने वाला है, मूढ़ है, जिसने अध्ययन करने पर भी वेद का मर्म नहीं समझा। वही व्यक्ति जो मंत्रों का अर्थ या मर्म जानता है, पूर्ण सौभाग्यवान् है। ज्ञान द्वारा वह विनष्ट-पाप होकर स्वर्ग का अधिकारी बनता है।

बिना समझे पढ़ना तो रटना-मात्र है। बुझी हुई आग पर मानो वह सूखी लकड़ी डाल रहा है, और इस प्रकार तो अग्नि प्रज्वलित नहीं की जा सकती।

अब प्रश्न यह है कि यदि वेद की ऋचाओं के त्रिविध या बहुविध अर्थ हैं तो सभी अर्थों को जानने से इष्ट स्वर्ग की सिद्धि होगी, अथवा एक अर्थ जान लेने पर भी हो जायगी। विद्वानों की सम्मति इस सम्बन्ध में क्या है, यह कहना कठिन है। याज्ञिक विद्वान् केवल विनियोग ही समझते रहे, और इस कारण ऐसे विद्वानों का ही नहीं, समाज मात्र का पतन हुआ। आर्य समाज द्वारा प्रोत्साहित वेद पारायण यज्ञ उसी प्राचीन कलुषित परम्परा के उदाहरण हैं। हमें गम्भीरता से यह सोचना होगा कि आज के युग में ये यज्ञ वेद की कितनी सुरक्षा करते हैं, और पौराणिकता की अन्धपरम्पराओं का कितना पोषण करते हैं। मैं केवल संकेत से कह रहा हूँ। इनके सम्बन्ध में हमें सतर्क रहना चाहिए। तथाकथित वेद पारायण यज्ञों की वर्तमान पद्धति पर हमें गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

मेरा अपना विचार है कि वेद के सम्बन्ध के तीन पक्ष तो अधिकांश में बेकार हैं—अल्पांश में ही उनका उपयोग है—याज्ञिक पक्ष, ऐतिहासिक पक्ष और दैवत पक्ष। जब मैं इन पक्षों का नाम ले रहा हूँ तो मेरा अभिप्राय इन शब्दों के रुढ़ि-विशेष अभिप्राय से है। चारों वेदों के बीस सहस्र के लगभग मंत्र कर्म-काण्डीय यज्ञाग्नि में आहुति डालने, या अश्वमेधादि यज्ञों में विनियोग करने निमित्त नहीं बने हैं। थोड़े से विनियोग तो बुरे नहीं है, वे हमारी आस्तिक भावना के द्योतक हैं—जैसे षोडश संस्करों के विनियोग और शान्ति पाठ (द्यौः शान्तिः इत्यादि) वाला विनियोग। भोजन के पूर्व अन्नपते अन्नस्य नो धेहि (यजु० ११।८३) मंत्र का पाठ इस युग का नया विनियोग है (स्वामी दयानन्द ने संस्कार विधि में इसका विनियोग अन्नप्राशन संकार के प्रकरण में दिया है)।

कुछ मंत्रों में तो विनियोग सम्बन्धी रूप-समृद्धि होती है, पर कुछ विनियोग सर्वथा असमृद्ध और कुछ तो विपरीत-समृद्ध भी होते हैं। कुछ में श्लेष-समृद्धि ही है। जैसे शन्नोदेवी मंत्र से आपः (पानी) द्वारा आचमन करना)। भद्रं कर्णेभिः मंत्र से कर्णवेध संस्कार कर देना भी प्राचीन विनियोग तो है पर रूप-समृद्ध विनियोग नहीं है। यदि इष्टकर्म करते समय ऐसा मंत्र बोला जाय, जिसमें उसी क्रिया का वर्णन हो जो यज्ञ में की जाने वाली है तो इसे हम रूप-समृद्धता कहते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में ऐसे वचनों का बहुधा उल्लेख आता है—

एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूप समृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृगभिवदति। (१।१।४)

यज्ञों में यदाकदा रहस्य-पूर्ण नाटिकाओं का समावेश होता है, और याज्ञिक क्रियाओं द्वारा विशिष्ट रहस्यों को बोधगम्य बनाने का प्रयास किया जाता है। प्राचीन जनता यज्ञ की प्रकियाओं से परिचित थी, अतः उनके आधार

पर रहस्यों को समझ सकने में भी समर्थ थी। छान्दोग्य उपनिषद् में सामगान पद्धति से परिचित व्यक्तियों को उनकी ही शब्दावली द्वारा आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने का प्रयास किया गया है। ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मणों में इसी प्रणाली के आधार पर वैदिक मंत्रों के रहस्य समझाये गये हैं। याद रखना चाहिए कि केवल आहुति डाल लेने से रहस्य समझ में नहीं आ सकते। याज्ञिक क्रियाओं के परोक्ष रहस्य को समझने समझाने की आवश्यकता होती है। अन्यथा याज्ञिक विनियोग सर्वथा व्यर्थ हैं।

वेदार्थ का दूसरा पक्ष ऐतिहासिक है। आजकल पठन-पाठन में जिस अर्थ में हम 'इतिहास' शब्द का प्रयोग करते हैं, वह वेदार्थ के ऐतिहासिक पक्ष से भिन्न है। शाश्वत वैदिक ऋचाओं में जब भूतकाल का प्रयोग होता है, अथवा जब निम्न प्रकार के प्रयोग होते हैं, तो उनमें इतिहास की हलकी सी झलक होती है—

(क) **सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्** (ऋ० १०।१९०।३)

(ख) **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः** (ऋ० १।१।२)

(ग) **तस्मादश्वा अजायन्त** (ऋ० १०।९०।१०)

किन्तु इन मंत्रों में शाश्वत इतिहास की अभिव्यक्ति है। ऐसे मंत्रों में प्रयुक्त भूतकालिक क्रियायें वर्तमान और भविष्यत् काल के लिए भी यथार्थ सत्य हैं। वेद की ऋचाओं में इसी प्रकार के शाश्वत पुराण और इतिहास का उल्लेख है। ऋचाओं में उल्लिखित असुर, वृत्र, पणि, इन्द्र, मरुत, और अश्विन्-द्वय इसी प्रकार की शाश्वत सत्तायें हैं, जिनका संबंध जितना बहिर्जगत् से है, उससे अधिक तो हमारे अन्तःजगत् से। बहिर्जगत् के सूर्य और उषाओं में जितना सत्य है, उससे कहीं अधिक महत्त्व तो उस सूर्य का, सूर्य के रथ का, सूर्य के अश्वों का और उन उषाओं का है जो मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय लोकों से संबंध रखती हैं। ऋषियों की पैनी दृष्टि ने अधिभूत और अध्यात्म दोनों प्रकार के अभिप्रायों को ऋचाओं में देखा और ऋचाओं की गम्भीरता का परिज्ञान प्राप्त किया। वेद का गुह्यज्ञान ही वह बीज हैं जो आगे चलकर उपनिषद् और वेदान्त अध्यात्म का शास्त्र बना। हमारे दृश्यमान जगत् में भी एक सत्य है जो अवर कोटि का है. बाह्य जगत् की चेतना भी अवर कोटि की है जिसमें अमृत और अग्नि भी है। बाह्यलोक का सत्य हिरण्य--आवरण से ढका हुआ है, और इसी के सम्बन्ध में कहा गया है कि "इमे चेतारो अनृतस्य भूरेः" (ऋ० ७।६०।४)। इस अवर कोटि के सत्य से भिन्न एक और भी सत्य है, या सत्यलोक है, जहां सब कुछ सत्य

सचेतन है (सदनाद् ऋतस्य, ऋ० १।२६४।४७; ४।२२।३)। यह है उच्चतम प्रकाश का लोक, सत्य के सूर्य का लोक, स्वर्लोक या बृहद् द्यौ)। उपनिषदों ने इस वेद रहस्य का उद्घाटन करने का कहीं-कहीं प्रयास किया है।

अधिदैवत प्रकरण भी मंत्रों के रहस्य से भरे हुए हैं। शब्दावली हमारी परिचित भाषा की है, किन्तु अभिप्राय उस लोक के तथ्य से है, जिसकी अपनी कोई भाषा है ही नहीं। कहने को तो प्रकाश में दो साथ-साथ रहने वाले तारे (अश्विनौ) हैं पर जैसे उषा के दो स्वरूप हैं, प्रातःकाल सूर्य के साथ आने वाली उषा, और उसी प्रकार की अन्तः-ज्योति की उषा या अध्यात्म लोक की उषा, उसी प्रकार अश्विनौ का एक रूप है—वे घोड़े की सवारी करने वाले हैं, आनन्द-भोग के देवता हैं, मधु को खोजने वाले हैं, वैद्य हैं; वे फिर से बूढ़े को यौवन, रोगी को आरोग्य और अंगहीन को समग्रांग बनाने वाले हैं। पर इस रूप से भी एक भिन्न रूप उनका है, वे तीव्रता में पक्षियों के समान, मन के समान, वायु के समान हैं—

हिरण्यत्वं मधुवर्णो घृतस्नुः वृक्षो वहन्ना रथो वर्तते वाम्।
मनोजवा अश्विना वातरंहा येनातियाथो दुरितानि विश्वा।।

(ऋ० ५।११।३)

अश्विनावेह गच्छतं नासत्या मा वि वेनतम्।
हंसाविव पततमाँ सुताँ उप।।

(ऋ० ५।७८।१)

ये अश्विनौ रथ में मनुष्य के लिए परिपक्व या परिपूर्ण सन्तुष्टियों को भरकर लाते हैं, वे आनन्द के (मयस् के) निर्माता हैं। स्पष्ट है कि अश्विन् दो शक्ति-युग्म हैं, जिनका मुख्य व्यापार है मनुष्य के अभ्यन्तर में क्रिया तथा आनन्द भोग के रूप में वातमय या प्राणमय सत्ता को पूर्ण करना। पर साथ ही वे सत्य की, ज्ञानयुक्त कर्म की और यथार्थ भोग की शक्तियाँ भी हैं। ये वे शक्तियाँ हैं जो उषा के साथ प्रकट होती हैं, ये क्रिया की वे अमोघ शक्तियाँ हैं जो चेतना के समुद्र में से उदित हुई हैं (सिंधु मातरा) और जो दिव्य होने के कारण सुरक्षित रूप से उच्चतर सत्ता के ऐश्वर्य को मनोमय कर सकती हैं (मनोतरा रयीणाम्), उस विचार शक्ति के द्वारा मनोमय कर सकती हैं, जो उस सच्चे तत्त्व को जान लेती हैं या सच्चे ऐश्वर्य को पा लेती है, (धिया वसुविदा)—

या दस्रा सिन्धुमातरा, मनोतरा रयीणाम्।
धिया देवा वसुविदा।। (ऋ० १।४६।२)

योगी अरविन्द और ऋषि दयानन्द दोनों ही इस वेद-रहस्य से परिचित थे। दोनों ही रूप दोनों को मान्य थे। अश्विन् साधारण वैद्य या शल्य-चिकित्सक भी हैं, और साथ ही साथ वे अन्तः जगत् के प्रेरक भी हैं।

स्वामी दयानन्द ने वेद की ऋचाओं का याज्ञिक पक्ष इसलिए अपने भाष्य में नहीं लिया, क्योंकि ब्राह्मणादि ग्रन्थों में इस पक्ष का काफी विस्तृत निर्देश है, और स्वामी दयानन्द उस पक्ष को स्वीकार करते हैं। स्वामी दयानन्द ने अध्यात्म तत्त्व ज्ञान पक्ष का विस्तार वेद-भाष्य में इसलिए नहीं किया, क्योंकि ऐसा तो उपनिषदों और वेदान्त सूत्रों में किया जा चुका है। प्राणविद्या और मनोविज्ञान के संबंध में जो कुछ योग दर्शन में या उपनिषदों में है, वह वेद का ही विस्तार है, अतः उसकी पुनरावृत्ति करना भी महर्षि ने बहुत आवश्यक नहीं समझा।

वेद का एक और आवश्यक पक्ष है—व्यावहारिकी, अर्थात् वेद हमारे जीवन में प्रतिदिन प्रेरणा देने वाली श्रुतियों की भी संहिता है—जीवन के अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों के पथ की प्रेरणाओं को देने वाली। यज्ञ समस्त श्रेष्ठतम कर्मों का नाम है, अतः यज्ञ की व्याख्या स्वामी दयानन्द ने 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' में इस प्रकार की—

> **यज्ञ** उसको कहते है, जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथा-योग्य शिल्प, अर्थात् रसायन जो कि पदार्थ विद्या, उससे उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना है, उसको उत्तम समझता हूँ। (२८)

आर्य्योद्देश्यरत्नमाला (४७) में भी 'यज्ञ' की परिभाषा (या व्याख्या) इसी प्रकार की है—जो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्य्यन्त, व जो शिल्प-व्यवहार और जो पदार्थ विज्ञान है, जो कि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है, उसको यज्ञ कहते हैं। भारत के प्राचीन ऋषियों ने वेद की ऋचाओं से प्रेरणा प्राप्त करके विविध वेदांगों और उपांगों का विस्तार किया—इस विस्तार का कहीं अन्त नहीं है। ऋषि ने हमें प्रेरणा दी कि समस्त भौतिक विज्ञान, रसायन, शिल्प, उद्योग, कृषि, आयुर्वेद का अध्ययन जीवन के व्यक्तिगत और समाजगत उत्थान के लिए परमावश्यक है। जीवन की पूर्णता वेदार्थ की समग्रता के समझने में है। स्वामीजी के श्लेषालंकारों और लुप्तोपमाओं का भी यही अभिप्राय है। मित्रं हुवे पूतदक्षं (१।२।७) मंत्र के अन्वयार्थ का आरम्भ ही ऋषि इस प्रकार करते हैं—

अहं शिल्पविद्यां चिकीर्षुर्मनुष्यो यौ घृताचीं धियं साधन्तौ वर्तेते, तौ पूतदक्षमित्रं रिशादसं वरुणं च हुवे ।।

इस मंत्र का अर्थ करते समय मित्र का अर्थ ब्रह्माण्डस्थ सूर्य भी है, और शरीरस्थ प्राण भी। मित्र-वरुण से अभिप्राय प्राण-अपान दोनों से है। व्यवहार विद्या की सिद्धि महर्षि को सदा अभीष्ट रही है। संसार के धर्म-प्रवर्त्तकों में महर्षि दयानन्द सबसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने उन्नीसवीं शती में पश्चिमी विज्ञान के उदय का स्वागत किया था, और उन्होंने यह बात भी बतायी कि भौतिक क्षेत्र के विज्ञान का अध्ययन भारत के लिए कोई नई चीज नहीं है। भारत के अतीत गौरव के युग में ऋषियों और मनीषयों ने पदार्थ विद्या और शिल्प का अध्ययन भी उतना ही आवश्यक समझा था जितना अध्यात्म विद्या का। महर्षि की मान्यता थी कि व्यावहारिकी विद्यायें भी वेद से उतनी ही प्रतिपादित हैं, जितनी कि प्राणविद्या, मनोविज्ञान या अध्यात्म।

एक दृष्टि से महर्षि दयानन्द का भाष्य सांकेतिक भाष्य-मात्र है। हम केवल एक उदाहरण यहाँ देंगे ऋग्वेद का एक मंत्र है—

प्र शंसा गोष्वघ्न्यं क्रीडं यच्छर्धो मारुतम्।
जम्भे दसस्य वावृधे ।। (१।३७।५)

इस मंत्र में दो शब्द आये हैं—गोषु और अघ्न्यम्। 'गोषु' का अर्थ महर्षि ने 'पृथिव्यादिष्विन्द्रियेषु पशुषु वा' किया है, अर्थात् गो का अर्थ इस मंत्र में पृथिवी, इन्द्रिय और पशु तीनो हैं। संकेत से यह बात ऋषि ने बता दी। इस प्रकार 'अघ्न्यम्' का अर्थ हन्तुमयोग्यम्, अघ्न्याभ्यो गोभ्यो हितं वा' अर्थात् न हनन करने योग्य पशु और 'इन्द्रयों के लिए हितकारी' इस प्रकार संकेत कर दिया। मंत्र का अध्ययन करने वालों से यह अपेक्षा की जाती है कि इन संकेतों के आधार पर वे सम्पूर्ण मंत्र का ही नहीं, प्रत्युत समस्त सूक्त का अर्थ त्रिविध या बहुविध करलें। यदि महर्षि स्वयं कहीं इस समस्त विस्तार में पड़ जाते तो भाष्य के लिए कई जन्म लेने पड़ते। अत: यह ध्यान रखना चाहिए कि महर्षि दयानन्द के भाष्य में सांकेतिक पूर्णता ही है। व्यावहारिकी प्रक्रिया वाले भी अनेक अर्थ एक ही श्रुतिवाक्य के हो सकते हैं। यही बात अन्य प्रक्रियाओं की भी है।

एक बात का और उल्लेख करके मैं इस लेख को समाप्त करूँगा। वह है स्फुट सूक्तियों या कण्डिकाओं के समय-समय पर नूतन विनियोग' पूरे मंत्र

की अपेक्षा ये कण्डिकायें अधिक प्रचलित हो गयी हैं, पूरे मंत्र में इन कण्डिकाओं का प्रासंगिक अर्थ कुछ और था, पर नये प्रचलन में उनका अर्थ कुछ और हो गया। मैं दो उदाहरण लूंगा—

(१) **कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**—यह मंत्र आर्यसमाज के जगत् में ऐसा प्रचलित है मानो हम दुनियाँ के लोगों को उसी अर्थ में आर्यसमाजी बनाना चाहते हैं, जिस अर्थ में मुसलमान दुनिया को मुसलमान बनाना चाहते हैं। पूरा मंत्र है—

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।
अपघ्नन्तो अराव्णः (९।६३।५)

इस मंत्र की संगति इसके पूर्व मंत्र से है—

एते असृग्रमाशवोऽतिह्वरांसि बभ्रवः सोमा ऋतस्य धारया (९।६३।४)

रहस्यमय अर्थ की बात मैं नहीं करूंगा। चौथे मंत्र में भूरे रंग के सोम रस की धारा का उल्लेख था, जो विविध बाधाओं को पार करके आगे बढ़ रही थी। जल धारा भी इसी के साथ थी—यह आगे बढ़ी, इन्द्र को वर्धित करते हुए, जलों को प्रेरित करते हुए, समस्त कृत्यों को सफल बनाते हुए और बाधा पहुँचाने वालों को नष्ट करते हुए। और इसी का उल्लेख छठे मंत्र में भी है।

स्पष्ट है कि इन मंत्रों में 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' सूक्ति उस प्रकरण या प्रसंग में प्रयुक्त नहीं हुई है, जिस प्रसंग में हम बहुधा इसका उपयोग करने लगे हैं।

(२) **अहंभूमिमददा आर्याय**—यह कण्डिका ऋग्वेद के निम्नमंत्र का भाग है—

अहं भूमिमददामार्यायाऽहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनुकेतमायन्। (४।२६।२)

इस मंत्र में आर्य और मर्त्यया दो शब्द हैं—परमात्मा ने आर्य को भूमि दी और मर्त्य को वृष्टि दी। उसी प्रभु ने जलों को प्रेरणा दी। समस्त देवगणों पर उसी का अनुशासन है। वैसे तो देखा जाय तो आर्य और अनार्य दोनों ही मर्त्य हैं। यहाँ आर्य शब्द से बिलकुल वह अभिप्राय नहीं है कि इस भूमि पर आर्य ही शासन के अधिकारी हैं। जैसा भाव सम्भवतः 'सार्वदेशिक' पत्रिका की मुद्रा से व्यक्त होता है। यही नवीन विनियोग है।

स्तुता मया वरदा वेद माता—यह अथर्ववेद की एक कण्डिका है। पूरा मंत्र इस प्रकार है—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।
मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् । (अथर्व १९।७१।१)

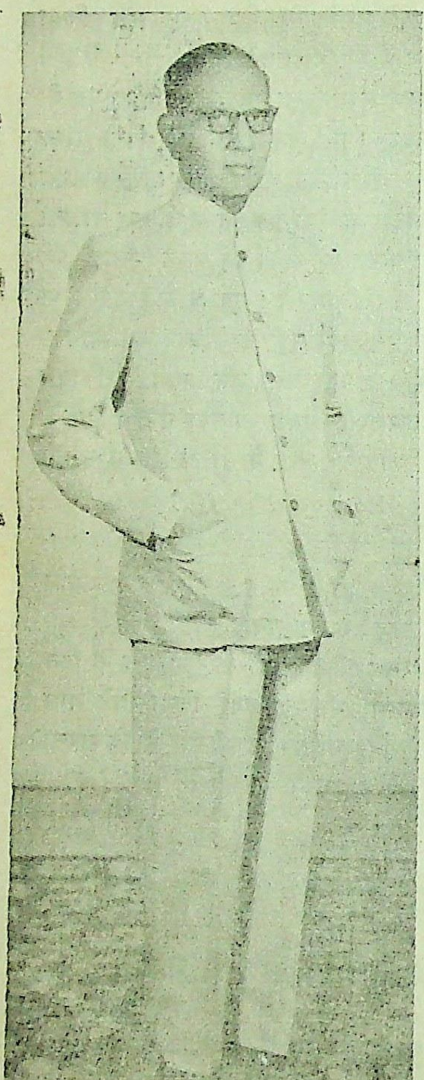
इह मंत्र का देवता 'गायत्री' है। अतः यह सन्दिग्ध है कि यह मंत्र वेद की स्तुति का द्योतक है, या वेद का अर्थ ज्ञान मात्र है अथवा यह गायत्री की स्तुति है। सूक्त में अकेला यह मंत्र है, अतः और कुछ कहना व्यर्थ है। यह माता प्रेरिका है, द्विजों को पवित्र करने वाली है। कुछ आचार्यों ने 'वरदा' का अर्थ 'इष्टकाम प्रदात्री' किया है, और वेदमाता का अर्थ- वेदस्य ऋगादि-रूपस्य माता, अर्थात् 'सावित्री' किया है।

इस मंत्र के साथ मैं इस निबन्ध को पूरा करता हूं। वेदों को सायण, महीधर आदि की परम्परा से मुक्त करके ऋषि दयानन्द ने ऐसा उच्च स्थान प्रदान किया, जिससे व्यक्ति और समष्टि दोनों के अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि संभव हो सकती है।

ऋषि दयानन्द के बाद के विनियोग—आर्य समाज के प्रभाव से वैदिक मंत्रों के कुछ नये विनियोग महर्षि दयानन्द के जीवन के बाद प्रारंभ हुए हैं। साधारणतया ये विनियोग अच्छे ही हैं, और परम्परा से प्राप्त पुराने विनियोगों से कम उनमें रूप-समृद्धि नहीं है। स्वयं स्वामी दयानन्द ने संस्कार विधि में अनेक मंत्रों के नये विनियोग कर्मकाण्ड में दिए हैं, जैसे वानप्रस्थ और संन्यास संस्कारों में, जिनका निर्देशन पुराने गृह्य या श्रौत सूत्रों में नहीं है। आर्यसमाज की विद्वत्-प्रेरणा से पर्व-पद्धति भी तैयार की गई, यद्यपि वह बहुत प्रचलित न हो सकी। इसमें तो नये विनियोग ही हैं। 'शुद्धि' भी एक संस्कार बना दिया गया, जिसमें भी नये विनियोगों का प्रयोग हुआ। श्री मदनमोहन विद्यासागर जी ने 'संस्कार समुच्चयः' में तो बहुत से नये विनियोगों को प्रतिपादित किया है। मेरे विचार से दयानन्दोत्तर काल में जो नये विनियोग बहुत ही प्रचलित हो गए हैं, उनमें से कुछ ये हैं—(१) सभा या अधिवेशन की समाप्ति पर 'द्यौः शान्तिः' मन्त्र से शान्ति पाठ करना, (२) भोजन के प्रारम्भ में 'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु' नामक एक पुरानी ऋचा का पाठ करना, (३) यज्ञ की समाप्ति पर "पूर्णमदः पूर्णमिदं" "पूर्णा दर्वि" आदि कतिपय ऋचा या मंत्र का पाठ, (४) राष्ट्रीय गीत के रूप में 'आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्म वर्चसी" मंत्र का पाठ, (५) मृत्यु के अनन्तर तीसरे दिन होने वाले हवन का नाम 'शान्ति-यज्ञ' रखना और उस अवसर पर 'शान्तिकरण' मंत्रों का पाठ।

'शान्ति यज्ञ' में पौराणिक भावना का कुछ सूक्ष्म समावेश होगया है। यजमान समझता है कि दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए यह यज्ञ किया जा रहा है; उसकी इसी भावना को हम प्रेरणा और प्रोत्साहन देने लगे हैं। यह यज्ञ भी पुरोहितों की वृत्ति का कारण बनता जा रहा है। शान्ति यज्ञ के संबंध में मुझे एक कटु अनुभव टैनजानिया (पूर्वी अफ्रीका) की अपनी यात्रा में हुआ। शान्तियज्ञ का वहाँ रिवाज था, और उस अवसर पर शान्ति करण के मंत्रों के पाठ करने का भी। शान्तिकरण के मंत्रों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध शान्ति यज्ञों से हो गया कि यदि शान्ति करण के मंत्रों का पाठ सुनायी पड़े तो लोग समझने लगते थे कि यह मृत्यु संबन्धी यज्ञ है। एक बार मुझसे स्पष्ट पूछा गया कि किस अवसर पर स्वस्तिवाचन मंत्र पढ़े जावें और कब शान्ति-करण मंत्र। इस प्रश्न का रहस्य मुझे तब पता चला जब मुझे शान्तियज्ञ और शान्तिकरण मंत्रों के पाठ का अनवरत संबंध बताया गया। यह है कतिपय विनियोगों का भयंकर प्रभाव। महर्षि दयानन्द ने तो दोनों मंत्र समूहों को एक सा ही महत्त्व दिया है।

एक और नया विनियोग यजमान को आशीर्वाद देने को चला है, "सत्याः सन्तु यजमानस्यः कामाः' और अब तो एक यज्ञ में एक से अधिक यजमान होने लगे हैं, अतः इस काव्य को 'सत्याः सन्तु यजमानानां कामाः' करके बहु-वचनात्मक भी बना दिया गया है। सार्वजनिक यज्ञों में पूर्णाहुति के दिन जनता की सस्ती श्रद्धा का जो व्यापारीकरण भी यदा-कदा किया जाने लगा है, उसके संबंध में आर्यसमाज के मनीषी विद्वानों को गम्भीरता से विचारना चाहिए। होसकता है कि मेरे दृष्टिकोण की ही इसमें भूल हो। □



आचार्य दत्तात्रेय वाब्ले

जन्म और शिक्षा : श्री वाब्ले का जन्म एक प्रसिद्ध एवं सम्पन्न ब्राह्मण परिवार में सन् १९०९ में महाराष्ट्र में हुआ। किन्तु कुछ पारिवारिक कारणों से विवश होकर १० वर्ष की अवस्था में ही उन्हें दक्षिण से सुदूरपूर्व उत्तर में सन् १९२० में निर्वासित होना पड़ा था। इसीलिये स्वभावत: उन्हें अपनी शिक्षा, दीक्षा और जीवन में अन्य सफलताओं और उपलब्धियों के लिए केवल अपनी प्रतिभा और परिश्रम पर ही निर्भर रहना पड़ा।

स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय तक प्राय: समस्त परीक्षाएं उत्तम श्रेणी में पास करने के परिणामस्वरूप छात्रवत्तियों तथा अन्य सहायता से उनका शिक्षण पूरा हो सका। डी० ए० वी० हाईस्कूल अजमेर के बाद उनका उच्च शिक्षण बनारस, इलाहाबाद एवं लखनऊ विश्वविद्यालयों के छात्रावास में रहकर हुआ, जहाँ से उन्होंने राजनीतिशास्त्र तथा इतिहास दोनों में एम० एल० एल० बी० परीक्षाएँ पास कीं।

कार्यक्षेत्र में प्रवेश : सन् १९३४ में एम० ए०, एल० एल बी० करने के बाद आपने अजमेर स्थित राजकुमारों के प्रसिद्ध मेयो कालेज में प्राध्यापक के रूप में जीवन प्रारम्भ

किया। किन्तु काँग्रेस की तरफ से स्थानीय नगर पालिका में निर्वाचित होने पर मेयो कॉलेज के अंग्रेज प्रिंसिपल के कारण पद त्याग करना पड़ा, अत: उन्होंने वकालत प्रारम्भ करके अजमेर के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। नगर की धार्मिक तथा अन्य संस्थाओं में भी उन्होंने सक्रिय योग दिया। राज्य के सबसे बड़े गैर-सरकारी कॉलेज के प्रिंसिपल के उत्तरदायित्व के अतिरिक्त नगर परिषद् के वरिष्ठ उपाध्यक्ष, प्रथम श्रेणी के आनरेरी मजिस्ट्रेट, काँग्रेस निर्वाचन बोर्ड के चेयरमैन, प्रदेश अध्यापक संघ के अध्यक्ष, आगरा व राजस्थान विश्वविद्यालयों की कार्यकारिणी, सीनेट और सिंडीकेट के सदस्य, रैडक्रॉस समिति के अध्यक्ष, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के सदस्य एवं संयोजक तथा आर्य-समाज व दयानन्द बाल सदन के प्रधान, डी० ए० वी० की लगभग आधी दर्जन शिक्षण संस्थाओं के मन्त्री तथा अध्यक्ष के रूप में वर्षों से उनका सारा समय बड़ा व्यस्त रहा है।

दयानन्द कालेज की स्थापना और विस्तार : कॉलेज निर्माण समिति के यशस्वी महामन्त्री स्वर्गीय श्री पं० जियालाल जी के साथ मन्त्री के रूप में कार्य करते हुए बाब्लेजी ने ही कॉलेज की सारी योजना और रूपरेखा तैयार की थी। फलत: उनकी अद्भुत कार्यक्षमता को देखकर आर्यसमाज शिक्षा सभा अजमेर ने सन् १९४५ में उन्हें कॉलेज का आचार्य (प्रिंसिपल) नियुक्त किया। आपने अपनी चमकती हुई वकालत छोड़कर कॉलेज की इस सेवा को कर्त्तव्य मानकर स्वीकार किया। आज उन्हीं के अथक् प्रयत्नों से कॉलेज को राजस्थान की एक विशिष्ट संस्था होने का गौरव प्राप्त है। कला, वाणिज्य, कृषि विज्ञान तथा शिक्षा इन पांचों संकायों की शिक्षा की यहाँ व्यवस्था है। इस कॉलेज में नौ विषयों में स्नातकोत्तर अर्थात् एम० ए० तक के पाठ्य विभाग हैं, संख्या सीमित करने पर भी कॉलेज में १८०० छात्र शिक्षा प्राप्त करते हैं तथा ८० अध्यापक हैं। सन् १९४५ में इसका वार्षिक बजट कुछ हजार रु० का ही था। आज वह लगभग १० लाख है। कॉलेज की सर्वांगीण प्रगति व उत्तम शिक्षा के आधार पर राज्य सरकार इसे विशिष्ट श्रेणी की संस्था मानकर सर्वाधिक अनुदान प्रदान करती रही है। इतने विशाल भार के अतिरिक्त आवर्तक और अनावर्तक अनुदान की बड़ी राशि जुटाने का श्रेय भी श्री बाब्लेजी को ही है। गत २५ वर्षों में कॉलेज प्राँगण के छोटे बड़े २६ में से २३ भवन उनके प्रयत्नों से ही निर्मित हुए हैं।

वर्तमान में आप आर्यसमाज अजमेर के प्रधान दयानन्द बाल सदन के भी प्रधान तथा दयानन्द कालेज आदि सभी एक दर्जन शिक्षण संस्थाओं के निर्देशक, इण्डियन रैडक्रॉस सोसाइटी जिला अजमेर के चेयरमेन हैं। सेवानिवृत्त होने के बाद आप अपना अधिकांश समय आर्यसमाज और उसकी शिक्षण संस्थाओं की व्यवस्था में लगाते हैं। आप आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के वरिष्ठ उप-प्रधान तथा सार्वदेशिक सभा के भी सदस्य हैं। □

महान् नीतिज्ञ योगेश्वर श्रीकृष्ण

—वचनेश

द्वापर युग का अन्तिम चरण। आर्यावर्त के भाग्याकाश पर अविद्या एवम् अज्ञान के सघन घन आच्छादित थे। चतुर्दिक स्वार्थ, शोषण और सन्त्रास का घटाटोप अंधकार व्याप्त था। भारतवर्ष की एकता खंड विखंडित होती जा रही थी और राजनीति ने इस प्रकार का विकृत रूप धारण कर लिया था कि पिता-पुत्र, भाई-बहन और भाई-भाई के संबंधों में भी उसने स्नेह और सौहार्द भाव के स्थान पर द्वेष और डाह का सूत्रपात कर दिया था। आसुरी वृत्ति से सद्वृत्ति पराभूत सी होती जा रही थी। निराशा के इस घनीभूत वायुमडंल में जन-जन किसी ऐसे महापुरुष के धराधाम पर आगमन की प्रतीक्षा में था कि जो आशा को निराशा में परिणत कर मानवता का त्राणदाता सिद्ध हो सके। अन्ततः असुर उत्पीड़न से भयाक्रान्त जनता को विश्वास का नवसम्बल प्रदान करने हेतु भाद्र कृष्णाष्टमी बुधवार को गहन निशा के अंधकार को भेदती और दसों दिशाओं को आलोकित करते हुए एक महान् विभूति अवतरित हुई यही थे महान नीतिज्ञ योगेश्वर श्रीकृष्ण। यदुवंशी प्रमुख श्री वसुदेव के कुलदीपक के रूप में उनका जन्म माता देवकी की कोख से आज से लगभग ५२०० वर्ष पूर्व हुआ था। मथुरा इस ऐतिहासिक पुरुष को जन्म देकर गौरवशालिनी बन गई।

श्रीकृष्ण ने अपने पुरोहित गर्गाचार्य द्वारा वैदिक विधि से श्रीकृष्ण और उनके बड़े भाई बलराम का यज्ञोपवीत संस्कार कराया। तदुपरांत इन दोनों भाइयों को गुरूकुल में विद्याध्यन हेतु भेजा गया। वहाँ उन्होंने चारों वेद, धनुर्वेद और मीमांसा आदि का सागोपांग अध्ययन तो किया ही साथ ही राजनीति में भी पारंगत हुए।

बाल्यकाल से होनहार विरवान के होत चीकने पात' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए वे दुष्टदलन में तल्लीन हो गए।

सर्वप्रथम राष्ट्रीयता का संदेश

ब्रज में उन दिनों इन्द्रपूजन प्रचलित था। श्रीकृष्ण ने ब्रजवासियों को इस तथ्य से अवगत कराया कि गोप जीवन का आधार है गोवंश और गोसंर्धन। अतः उन्होंने इन्द्र की व्यक्ति पूजा को बंद कराकर उसके स्थान पर गोसंवर्धन

यज्ञ का सूत्रपात किया और इन्द्र के प्रकोप से भी ब्रज के आबाल वृद्ध नर-नारियों को अभयदान प्रदान किया। वस्तुतः यह इन्द्र कंस ही था जो ब्रज क्षेत्र का ऐश्वर्यवान नरेश था। किन्तु वह प्रजा अनुरंक नहीं प्रजा उत्पीड़क था। इस प्रकार वे ब्रज में राष्ट्रीयता की भावना के प्रथम संदेशवाहक बने।

श्रीकृष्ण गुरुकुल में शिक्षा दीक्षा प्राप्त कर स्नातक हो गए। उनकी कीर्ति कौमुदी चतुर्दिक व्याप्त होती जा रही थी। इस प्रशंसा से कंस को नितान्त व्याकुल कर दिया और उसने धनुषयज्ञ का आयोजन कर कृष्ण बलराम को आमंत्रित कर छलकपट से उन्हें अपने मार्ग से हटाने की दुरभिसन्धि की।

राज दरवार में ही मेधावी श्रीकृष्ण ने इस षडयंत्र को भांप लिया। पहले तो उन्होंने कंस के दो मल्लों चाणूर और मुष्टिक को ठिकाने लगा दिया और फिर कंस भी श्रीकृष्ण के हाथों काल का ग्रास बना।

जब मथुरावासियों ने सर्वसम्मति से श्रीकृष्ण को राजसिंहासन की बागडोर संभालने और राजमुकुट धारण किया तो उन्होंने अपनी निस्पृह वृत्ति का परिचय देते हुए अपने वृद्ध और अत्याचार पीड़ित नाम उग्रसेन को कारामुक्त कराकर सिंहासनासीन हुआ।

श्रीकृष्ण ने नष्ट हुए यादव संघ की पुर्नस्थापना की और यदुवंशियों की विलुप्त हुई स्वतंत्रता उन्हें पुनः प्राप्त हो गया।

जरासंध व कालयवन का दमन

उन दिनों मगध में कंस के श्वसुर जरासंध की सत्ता थी। कृष्ण द्वारा कंस के संहार का समाचार पाकर जरासंध एक सुविशाल वाहिनी लेकर मथुरा पर चढ़ दौड़ा। किन्तु श्रीकृष्ण के सफल शैन्य संचालन में यादव वाहिनी ने जरासंध की सेना को परास्त कर दिया। जरासंध ने मथुरा पर एक दो नहीं अपितु १७ बार मुंह की खानी पड़ी। जब जरासंध ने १८वीं बार आक्रमण किया तो एक और आपदा कालयवन नामक मलेच्छ नरेश की सेना ने भी मथुरा को घेर लिया। किन्तु रणनीतिज्ञ श्रीकृष्ण ने अकेले ही प्रवंचना देकर कालयवन को एक गुफा में सो रहे मुचकुन्द नामक महापराक्रमी पुरुष से भिड़वा दिया और उसके हाथों कालयवन तो ढेर हो गया फिर दूरदर्शी श्रीकृष्ण ने नीति से काम लिया और उन्होंने समुद्र तटवर्ती द्वारिकापुरी में एक सुदृढ़ गढ़ बनाकर वहीं यादवों को बसा दिया।

तदुपरान्त विदर्भ नरेश भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी से श्रीकृष्ण ने विवाह रचाया।

पांडवों के मार्गदर्शक बने

योगेश्वर श्रीकृष्ण आर्यावर्त की अखंडता के महान् उपासक थे। उन्होंने इसी लक्ष्य को समक्ष रखकर महाभारत में अपनी भूमिका निभाई। जिन दिनों पाण्डव वनवास की अवधि भोग रहे थे। उसी अवधि में राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर में देश-विदेश के अनेक राजा उपस्थित हुए तो पांडव भी ब्राह्मण वेश में वहाँ पधारे। जबकि वीरवर धनर्धर श्रीकृष्ण ने मत्स्य वेध कर स्वयंवर की शर्त पूर्ण कर दी और उपस्थित क्षत्रिय उन्हें ब्राह्मण समझकर द्रुपद सुता का अर्जुन के साथ विवाह होने से रोकने के लिए उपद्रव पर उतारू हो गए तो सर्वप्रथम कर्ण और अर्जुन की युद्ध-भूमि में भिड़ंत हुई। श्रीकृष्ण ने वहाँ अर्जुन का प्रबल पराक्रम देखकर भांप लिया कि क्षत्री मंडल को पराजित करने वाले धनुर्धर अर्जुन ही है। यों तो पांडव जननी कुन्ती श्रीकृष्ण की बुआ भी थी किन्तु इस प्रसंग के बाद तो श्रीकृष्ण और पांडव अभिन्न हो गए और पांडवों के मित्र सखा व सहायक ही नहीं अपितु मार्ग दर्शक भी बन गए।

महाराज युधिष्ठिर ने महर्षि नारद के परामर्श पर राजसूय-यज्ञ रचाने का परामर्श दिया तो श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा से पराक्रमी जरासंध पर विजय प्राप्त किए बिना राजसूय-यज्ञ पूर्ण नहीं हो सकेगा।

फिर उन्होंने ही भयंकर रक्तपात को टालने के लिए भीम और अर्जुन को लेकर जरासंध की राजधानी मगध में प्रवेश किया और अंततः वहाँ श्रीकृष्ण और भीम का मल्लयुद्ध करा दिया और जरासंध के दो टुकड़े करा दिए।

राजसूय यज्ञ में ही अपने अपमान पर अपमान करने वाले शिशुपाल को भी सुदर्शन चक्र से धराधाम से उठा दिया।

पांडवों के बढ़ते प्रभाव से क्षुब्ध दुर्योधन एवम् कौरवों ने अन्ततः शकुनि के सहारे पांडवों को फांस कर जुए में हरा दिया। उसी दांव के कुचक्र में पांडवों को १२ वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास की क्षति भी माननी पड़ी।

इस अवधि के समापन के उपरांत भी दुर्योधन ने जब पांडवों को उनका राज्य वापस करने की सिद्धता प्रदर्शित न की तो दोनों पक्षों में युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ हो गईं।

श्री कृष्ण द्वारा समझौते का प्रयास

उस स्थिति में श्रीकृष्ण स्वयं पांडवों की ओर से हस्तिनापुर में दुर्योधन के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने कौरवाधिपति को पांडवों से समझौता करने की दृष्टि से हर प्रकार मनाने का प्रयास किया। किन्तु जब कौरव नरेश ने

पांडवों को सुई की नोंक के बराबर भी भूमि देने से इंकार कर दिया तो उन्होंने दुर्योधन को सम्भावित विनाशक परिणामों के सम्बन्ध में भी सतर्क किया।

महाभारत युद्ध में भूमिका

जब योगेश्वर श्री कृष्ण अपने शांति प्रयासों में असफल हो गए तो अन्ततः युद्ध की घोषणा हो गई। भारतीय इतिहास में यही युद्ध महाभारत के महायुद्ध के नाम से विख्यात है। युद्ध घोषणा के उपरांत दोनों पक्षों की सेनाएँ कुरुक्षेत्र की समर भूमि में पाँडव नायक अर्जुन ने दोनों पक्षों में ही अपने सौ सम्बन्धियों को खड़ा पाया तो वह मोहग्रस्त हो उठे। अवस्था से उभारने के लिए श्रीकृष्ण ने धनुर्धर अर्जुन को जो महान उपदेश दिया वही गीता उपदेश के नाम से विश्वविख्यात है।

इस उपदेश में श्रीकृष्ण का योगेश्वर स्वरूप मुखरित हुआ और उन्होंने इन शब्दों में अर्जुन को जीवन का मर्म समझाया।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्तापो न शोषयति मारुतः॥

श्री कृष्ण ने अर्जुन को इस तथ्य से अवगत कराया कि आतमा अमर है। न शस्त्र इसे काट सकता है और न ही अग्नि इसे दग्ध कर सकती है और न ही जल इसे गला सकता है अथवा वायु इसे सुखा सकती है।

आप में वीर अर्जुन को संग्राम में अवतरित होने का जो आह्वान् किया वस्तुतः वह मानव मात्र महायंत्र है। उन्होंने कहा था।

हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः॥

युद्ध में तुम्हारी मृत्यु हो गई तो तुम्हें स्वर्ग के द्वार खुले मिलेंगे और विजय मिली तो तुम धराधाम का राज्य प्राप्त करोगे अतएव युद्ध के लिए संकलप बद्ध होकर संघर्ष पथ पर आगे बढ़ो।

इतिहास साक्षी है कि श्री कृष्ण की नीतिमत्ता के परिणामस्वरूप ही कौरव कुल के महान सेनापति भीष्म, जयद्रथ, इत्यादि का पतन हुआ तो द्रोण और कर्ण ही नहीं अपितु दुर्योधन का चिर विदाई देने में भी पाँडव पक्ष उन्हीं के दिशा निर्देशन में सफल हुआ।

महान कूटनीतिज्ञ

वस्तुतः योगेश्वर श्री कृष्ण अपने युग के महान कूटनीतिज्ञ थे। भारत के

महान् कूटनीतिज्ञ शुक्राचार्य के शब्दों में श्री कृष्ण अनुपम कूटनीतिज्ञ थे।

न कूटनीतिज्ञवत् श्रीकृष्ण सद्रशो नृपः ।।

शुक्रनीति ।४।१२६७

श्रीकृष्ण अनुपमवीर तो थे ही किन्तु महान सहिष्णु निर्भीक, विनम्र, नीति-मान, दिशा निर्देशक थे।

भारत ने ५ हजार वर्षों से भी अधिक से इस महान युग पुरुष की स्मृति को अपने मानस पटल पर संजोकर ही नहीं रखा अपितु पूर्ण श्रद्धा भावना सहित उन्हें अपना प्रेरणा पुरुष भी समझा है।

उनके सम्बन्ध में कतिपय तथाकथित श्रद्धालुओं ने अनेक भ्रान्तियां प्रसारित की हैं और उनके चरित्र को अपनी कल्पनाओं का लबाद उठाया है। किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि यह महामानव युग नायक था तो जन नायक भी। उन्होंने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के प्रेणाप्रद मानदण्ड स्थापित किया थे। योगेश्वर को आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द द्वारा प्रस्तुत यह श्रद्धांजलि श्री कृष्ण के आदर्शजीवन की परिचायक है।

"देखो, श्रीकृष्णचन्द्र का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आदि पुरुषों के सदृश्य है, जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्री कृष्ण जी ने जन्म से मरण पर्यन्त कुछ भी बुरा काम किया हो, ऐसा नहीं लिखा।

—सत्यार्थ प्रकाश, ११वां समुल्लास

सत्यार्थ-प्रकाश शताब्दी संस्करण विमोचन : एक प्रभावी समारोह

दिनांक ३ अगस्त का सुप्रभात। गांधीनगर (यमुना पार) स्थित आर्य समाज मन्दिर का विशाल प्राँगण। वेद मन्त्रों की सुमधुर गूँज से वायु मंडल निनादित हो उठा। मन्दिर का प्राँगण आबाल वृद्ध नरनारियों से खचाखच भरा था। इस दिवस एक सादगीपूर्ण किन्तु साथ ही महत्त्वपूर्ण आयोजन। समारोह था दयानन्द संस्थान द्वारा प्रकाशित सत्यार्थ प्रकाश के शताब्दी संस्करण का विमोचन।

विमोचनकर्त्ता थे राजधानी के प्रमुख राजनीतिक नेता कार्यकारी पार्षद चौ० हीरासिंह जी और अध्यक्षता कर रहे थे आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध संन्यासी श्री अमरस्वामी। वस्तुत: वैदिक आदर्श का क्रियान्वयन हो रहा था उस कार्य-क्रम के रूप में। क्योंकि अध्यक्ष थे संन्यासी तो विमोचन कर्त्ता थे राजनीतिक नेता। अर्थात् समारोह का संचालन आर्यजगत के तप: पूत विद्वान संन्यासी द्वारा हो रहा था और वक्ता के रूप में राजनीतिक नेता भी उनको ही प्रथम आदरांजलि सर्मपित कर रहे थे।

समारोह के आरम्भ में आर्यसमाज गाँधीनगर के प्रधान श्री जयप्रकाश आर्य एवं श्री सत्यपाल आर्य ने सम्माननीय अतिथियों का पुष्पमालाओं से स्वागत किया तथा उन सबका परिचय दिया दयानन्द संस्थान क दृढ़ संकल्पी अध्यक्ष पं० भारतेन्द्रनाथ जी ने।

कार्यवाही का प्रारम्भ पत्रकार श्री बनारसी सिंह द्वारा सत्यार्थप्रकाश के शताब्दी संस्करण की रूपरेखा और इस ग्रन्थ की महत्ता पर कहे गए कुछ शब्दों से हुआ। आपने बताया कि सत्यार्थप्रकाश किसी सम्प्रदाय वर्ग या जाति के लिए ही उपयोगी नहीं अपितु उसमें सभी प्रकार की संकीर्णता से मुक्ति का सन्देश प्रदान किया गया है।

तदुपरांत सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान ला० रामगोपालशाल वाले ने सत्यार्थ प्रकाश के शताब्दी संस्करण की प्रति चौ० हीरासिंह जी को विमोचनार्थ प्रस्तुत की।

कार्यकारी पार्षद चौ० हीरासिंह, एक सरल हृदय व्यक्तित्व – उन्होंने इस महान् ग्रन्थ का विमोचन करते हुए भी अपनी सरल किन्तु हृदय स्पर्शी भाषा में सत्यार्थ प्रकाश के रचयिता महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के भारतीय संस्कृति की रक्षार्थ दिए गए महान् सन्देश एवं स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए जगाई गई अग्नि की चर्चा करते हुए कहा कि आर्यसमाज ने मेरे सरीखे सहस्त्रों लोगों के जीवन में एक नई ज्योति जगाई थी। यदि महर्षि दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना कर देश में नवजागरण का शंखनाद न किया होता तो इस देश की जो स्थिति होती उसकी कल्पना करना भी कठिन है। आपने सत्यार्थ प्रकाश को जन-जन तक प्रसारित करने की महत्ता प्रतिपादित की।

तदुपरान्त वक्ता के रूप में मंच पर आए भगत सिंह कालेज कालकाजी नई दिल्ली के इतिहास विभाग के वरिष्ठ अध्यापक डा० योगानन्द। आपने-अपने संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित भाषण में कहा कि सत्यार्थ-प्रकाश में जो कुछ लिखा गया है वह केवल हमारे देश के लिए ही नहीं अपितु समस्त मानवता के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है। यह महान् ग्रन्थ शाश्वत महत्त्व की रचना है।

दयानन्द कालेज अजमेर के संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० धर्मवीर जी आर्य जगत् में नव आशा का संचार करने वाले युवक हैं और वाणी तथा लेखनी के समान रूप से धनी। आपने-अपने ओजपूर्ण एवं धारा प्रवाह भाषण में कहा कि बुद्धिमत्ता तीव्रता और व्यापक शक्ति का प्रभावी रूप महर्षि दयानन्द के रूप में आविर्भूत हुआ था और उसी महर्षि की महान् देन सत्यार्थ प्रकाश है। उसके एक-एक वाक्य में सहस्त्राब्दियों के मानवीय अनुभवों का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

उसके उपरांत संसद सदस्य प्रो० शेर सिंह का भाषण आरम्भ हुआ। आप-ने अपने संक्षिप्त भाषण में वेद द्वारा प्रतिपादित धर्म को पूर्णतः विज्ञान सम्मत निरूपित करते हुए कहा कि सत्यार्थ-प्रकाश उसी पावन धर्म का सत्य स्वरूप प्रस्तुत करता है। आपने सत्यार्थ-प्रकाश के आकर्षक और भव्य शताब्दी संस्करण पर दयानन्द संस्थान की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की।

गुरुकुल काँगड़ी के भूतपूर्व उपकुलपति श्री रघुवीर सिंह शास्त्री ने अपने प्रवचन में कहा कि सत्यार्थ प्रकाश विश्व का एक अनुपम ग्रन्थ है, जिसमें राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों में मार्गदर्शन उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का प्रचार मानव मात्र के कल्याण की दिशा में ठोस पग है।

सुप्रसिद्ध आर्य दार्शनिक एवं महानन्द मिशन कालेज, गाजियाबाद के वरिष्ठ प्राध्यापक प्रो० रत्नसिंह ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में स्पष्ट किया कि

स्वामी दयानन्द ने अपने इस ग्रन्थ का नाम सत्य प्रकाश न रखकर सत्यार्थ प्रकाश ही क्यों रखा ? उन्होंने कहा कि इस ग्रन्थ में सत्य के अर्थ का प्रकाश किया गया है। अर्थात् यह बताया गया हैं कि सत्य क्या है और मनसा वाचा कर्मणा उसी का अनुगमन मानव कल्याण का मार्ग है।

अब कार्यक्रम को आरम्भ हुए लगभग २।। घंटे व्यतीत हो चुके। समापन भाषण हुआ सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष लाला रामगोपाल जी शाल वाले द्वारा। उन्होंने बताया कि सत्यार्थप्रकाश एक ऐसा क्रान्तिकारी ग्रन्थ है कि जिसने अनेकों हृदय में सिद्धान्त, धर्म और कर्त्तव्य निष्ठा की वह महान् ज्योति जलाई थी कि जिससे प्रेरित होकर उन्होंने सिद्धान्त हेतु सर्वस्व समर्पण को ही अपने जीवन का मूल मंत्र बनाकर आत्माहुतियां प्रदान की।

तदुपरान्त सभी विद्वान् वक्ताओं और अतिथियों तथा उपस्थित सैकड़ों आबालवृद्ध आर्य नरनारियों का आभार व्यक्त करते हुए बताया कि दयानन्द संस्थान एक पंजीकृत न्यास है, जिसने अब तक सत्यार्थ प्रकाश विभिन्न आकारों में ३ लाख से अधिक की संख्या में प्रकाशित और प्रसारित किया है। आपने संस्थान की भावी योजनाओं को भी स्पष्ट किया।

अन्त में समरोह के अध्यक्ष श्री अमर स्वामी जी महाराज ने अपने अध्यक्षीय भाषण में सत्यार्थ प्रकाश द्वारा नवजीवन पाने वाले अनेकों व्यक्तियों के उदाहरण प्रस्तुत किए और बताया कि इस महान् ग्रन्थ ने किस प्रकार से उनके जीवन की दिशा ही बदल दी और वे सभी आर्य जाति एवं आर्यसमाज के प्रभावी प्रचारक और प्रसारक सिद्ध हुए।

अन्त में आर्य समाज गांधीनगर के मन्त्री श्री सत्यपाल जी ने इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए सभी का आभार माना।

इस प्रकार सम्पन्न हुआ यह सादगीपूर्ण किन्तु प्रभावी कार्यक्रय। लगभग ३।। घण्टे तक चले इस कार्यक्रम में अनेक वक्ताओं के मुख से उल्लेख हुआ जनज्ञान सम्पादक पंडिता राकेश रानी का भी, जो मंच पर आसीन थीं यद्यपि उन्होंने एक शब्द भी, नहीं कहा किन्तु यह भी एक अकाट्य सत्य है कि वही दयानन्द संस्थान द्वारा चलाए जा रहे वैदिक ज्ञान के प्रचार और प्रसार के महान् अभियान की सूत्रधार है, प्रेरक शक्ति हैं और एक स्तुत्य वरेण्य साधिका भी।

उनका भी आयोजकों ने आभार माना और तदपरान्त हुआ शान्ति पाठ। पुनः वेद मंत्रों की अनुगूँज चर्तुदिक व्याप्त हो गई और इस क्षेत्र के निवासियों को भी एक महान् ग्रन्थ की महत्ता विदित हो गयी और उस दिन अनेक मनों में सत्यार्थ प्रकाश के पारायण की जिज्ञासा जगी। अनेकों ने सत्यार्थ प्रकाश की प्रतियाँ श्रद्धा सहित प्राप्ति कर स्वय को धन्य माना। □

१२ अप्रैल १९७५ से अप्रैल १९७६ तक आर्यसमाज स्थापना
शताब्दी महोत्सव सर्वत्र मनाया जाए

अपने परिवारों पर निरंतर एक वर्ष तक "ओ३म" का झण्डा फहराएं

अगले वर्ष किसी भी सप्ताह सुविधानुसार प्रत्येक
आर्यसमाज अपने नगर में अवश्य आर्यसमाज
स्थापना शताब्दी महोत्सव मनाएं

अपने धन का प्रयोग अपने ही क्षेत्र में करें

धन का दुरुपयोग न हो इसके लिए यह आवश्यक है
कि आप अपने नगर-जिले और प्रान्त को
सुदृढ़ करें। अपनी प्रतिनिधि सभाओं को
शक्तिशाली बनाएं और अपने स्थान
के कोने कोने में वैदिक धर्म की
जय का स्वर गुंजाएं

पूरी शक्ति से अपने क्षेत्र को वेद-दयानन्द मय करने का व्रत लीजिए

भारतेन्द्र नाथ
मंत्री
सार्वभौम आर्यसमाज शताब्दी परिषद नई दिल्ली-५

क्या आप
अपने
परिवार
में
प्रभु की
अमर
वाणी
वेद
नहीं
लाएंगे
?



अधिक से अधिक सत्यार्थ-प्रकाश बाँटें

प्रत्येक आर्य समाज ३००) व्यय कर

३००० ट्रैक्ट

शताब्दी के अवसर पर बांटे

आप निम्न ट्रैक्टों में से कोई से ३००० ट्रैक्ट मंगा सकते हैं—

१–निमन्त्रण आर्यसमाज का। ४–आर्य समाज के दस नियम।
२–आर्य समाज के सौ वर्ष। ५–आर्य समाज की मान्यताएं।
३–आर्य समाज क्या मानता है? ६–सुख का मार्ग।

इन ३००० ट्रैक्टों का लागत मूल्य है ४५०)। हम १५०) आप से इसलिए कम ले रहे हैं कि आप शताब्दी के अवसर पर

अधिक-से-अधिक प्रचार कर सकें।

३००० ट्रैक्टों से कम के आर्डर १५) सैकड़ा की दर से ही भेजे जायेंगे।

शताब्दी मनाने की तैयारियां करें।

स्वामी जी के रंगीन चित्र ११×१८ इंच कागज पर केवल २००) हजार। ३०) सैकड़ा मंगाइए। अपने क्षेत्र के हर कोने में चित्र लगाइए।

दयानन्द संस्थान नई दिल्ली ५

॥ ओ३म् ॥

जन-ज्ञान-प्रकाशन का १४४ वां पुष्प

अथर्ववेदीय

मन्त्र विद्या

० ० ० ० ० ० ० ० ० ०

जिसमें अथर्ववेद में बतलायी जाने वाली झाड़-फूंक, जादूटोना, गण्डा तावीज, मूठ-मारण मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र आदि तान्त्रिक बातों का युक्ति प्रमाण सहित निराकरण और वैदिक संकल्प, अभिमर्श आदेश, मणिबन्धन, कृत्या - बलग - अभिचार का सविवेचन, मनोविज्ञान, आयुर्वेद विज्ञान से अनुमोदित वास्तविक स्वरूप प्रदर्शित किया है।

लेखक

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

० ० ० ० ०

दयानन्द संस्थान नई दिल्ली-५

प्रकाशक : पंडिता राकेश रानी
मंत्री, दयानन्द संस्थान
१५९७, हरध्यानसिंह मार्ग
नई दिल्ली-५

दूरभाष : ५६६६३९

मूल्य ६)रु०

मुद्रक :
हिन्दुस्तान आफसैट प्रेस दिल्ली-३१

विषय सूची

भूमिका

:——:

श्री पं० प्रियरत्न आर्ष ने अथर्ववेद के सम्बन्ध में यह ग्रन्थ जिस का नाम उन्हों ने "अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या" रक्खा है, लिखा है। ग्रन्थ का उद्देश्य इस बात पर विचार करना था कि अथर्व वेद के सम्बन्ध में जो कुछ पाश्चात्य विद्वान् और कुछेक उन्हीं के पीछे चलने वाले हिन्दुस्तानियों ने यह लिखा है कि वह जादू, टोने, तन्त्र-मन्त्र, झाड़-फूंक आदि की विधियों से भरा है कहां तक सत्य है। मैंने ग्रन्थ की हस्त कापी को आद्योपान्त पढ़ा। आर्ष महोदय का कथन है कि अथर्ववेद में अन्य शिक्षाओं के साथ निम्नाङ्कित पांच बातों की भी शिक्षा दी गई है:—

(१) सङ्कल्प या आवेश (Self Hypnotism or Magnatism)

(२) मार्जन और अभिमर्श (Mesmerism)

(३) आदेश (Hypnotic Suggestion)

(४) मणि-बन्धन (जिसका अशुद्ध नाम गंडा, तावीज है) ।

(५) कृत्या और अभिचार (टोना, टोटका आदि, जिसे प्रसिद्ध किया जाता है) विद्वान् लेखक ने इन बातों की पुष्टि अथर्ववेद के मन्त्रों से की है प्रत्येक मन्त्र के साथ साथ अनुवाद दिया गया है जिससे सुगमता के साथ प्रत्येक श्रेणी का पाठक मन्त्रों का आशय समझ सकता है मन्त्रों के पढ़ने से, वस्तुतः लेखक के विचारों का समर्थन होता है ।

लेखक ने इन वैदिक प्रयोगों का समर्थन आयुर्वेद आदि के ग्रन्थों से करते हुए इन्हें पूर्णतया वैज्ञानिक प्रमाणित किया है । कुछेक उदाहरण यहां दिये जाते हैं:—

(१) आञ्जनमणि—सुरमे की बनी गोली या टिकियायें हैं जिन्हें आञ्जन मणि कहते हैं सुरमा खनिज वस्तुओं से बनाया जाता है । इन गोली आदि को घिस और लेपरूप में करके आंख, नाक में उसकी बूँद डाली जाती है अथवा पिया जाता है इससे सांप के काटने से जो विष शरीर में प्रविष्ट होता है, उसका प्रभाव जाता रहता है पांडु और क्षय रोग आदि की इस से निवृत्ति होती है । इत्यादि

(२) शङ्खमणि—वह शङ्ख जिसमें से मोती निकलते हैं । मोती सहित का नाम शङ्खमणि है । इस मणि के प्रयोग में

लाने से शारीरिक, मानसिक रोग और कामवासना का वेग दूर हुआ करता है, आयु की वृद्धि हुआ करती है। इत्यादि

(३) औदुम्बर मणि—उदुम्बर गूलर को कहते हैं। इस के फल को अङ्कोलबीज के तेल में पकाकर खाने से एक मास तक भूख नहीं सताती— शिरस, गूलर तथा शमी के फलों को घृत में पकाकर खाने से दो सप्ताह तक भूख नहीं लगती।

(४) अभीवर्त मणि— इस मणि से अस्त्र बनाकर बम आदि की तरह शत्रु-सेना पर प्रयोग करने का विधान है।

(५) दर्भमणि—दर्भ अभ्रक को कहते हैं इस के कवच बनाकर शत्रुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा की जाती है।

(६) कृत्या और अभिचार के प्रयोग शत्रुसेना पर आक्रमण करके उनके वध के लिये हुआ करते हैं। कृत्या के प्रयोग से मकान भी तोड़े फोड़े जाते हैं इत्यादि इत्यादि।

समस्त ग्रन्थ के पाठ करने के बाद किसी भी पाठक पर जो प्रभाव पड़ सकता है, वह यह है कि आर्ष महोदय का हिन्दी भाषा में यह पहला प्रयत्न है जिसके द्वारा उन्होंने अथर्ववेद के उन स्थलों का जिसके लिये तन्त्र मन्त्र और जादू टोना बतलाने वाले कहा जाता है का स्पष्टीकरण किया है और

स्पष्टीकरण करते हुए उनका वास्तविक रूप जनता के सामने उपस्थित किया है। प्रत्येक वैदिक साहित्यसेवी से आशा है कि आर्ष जी के इस ग्रन्थ का स्वागत करेंगे

ग्रन्थ के पढ़ने से, मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और इस अपूर्व प्रयत्न के लिये मैं पं० प्रियरत्न आर्ष को बधाई देता हूं।

अलमोड़ा
२२-९-१९४१ } नारायण स्वामी

❀ ओ३म् ❀

अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या

प्रथम पटल

मन्त्र तथा मन्त्रविद्या का स्वरूप

मन्त्रविद्या को लोग जादू कहते हैं। जादु शब्द फारसी भाषा का है[1]। वहां इसका अर्थ किन्हीं ऐसे गुप्त प्रयोगों का नाम है जिनसे बाजीगरी के खेल तमाशे आश्चर्यजनक अद्भुत अमानुषी कौतुहल करश्मे वशीकरण और हिंसा-परघात किया जाता है। हमारी धारणा है कि इसका मुख्यार्थ हिंसा अर्थात् परघात है। जादु शब्द वेद के "यातु" शब्द का

१ हिन्दी में इसे दीर्घान्त माना गया है।

रूपान्तर या अपभ्रंश है। वेद के "यातु" शब्द का अर्थ हिंसा है "यातयति वधकर्मा" (निघ० २। १९) से बना है। तान्त्रिक परिभाषा में जादू के प्रयोगों को इन्द्रजाल या ऐन्द्रजालिक प्रयोग कहते हैं। "इन्द्रजाल" तथा "बृहद् इन्द्रजाल" आदि तन्त्रग्रन्थों में उक्त गुप्त बातों और हिंसापरक प्रयोगों का विस्तार से वर्णन किया है, इनका मूल भी वेद में है। अथर्ववेद में शत्रुसेना के वधार्थ इन्द्रजाल रचने का वर्णन आता है। वहां विद्युत् आदि पदार्थों द्वारा ऐन्द्रजालिक विधियों से शत्रु-सेना को क्षुब्ध, भयभीत, पीड़ित और हिंसित करने का विधान है[२]। तन्त्र-ग्रन्थों में रोग दूर करने, सर्प आदि के विष उतारने के भी वर्णन हैं। ऐसे गुप्त प्रयोगों को मन्त्र, तन्त्र और यन्त्र नाम से कहा जाता है। वेद के गुप्त प्रयोग वैज्ञानिक हैं, परन्तु तन्त्रग्रन्थों में कहे बहुधा कल्पित और अवैज्ञानिक हैं, इस विषय में श्री० रामदास गौड़ की सम्मति पढ़ने योग्य है। वे अपने लिखे "हिन्दुत्व" नामक एक ग्रन्थ में तन्त्र प्रकरण में लिखते हैं कि

---

२ बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः।
तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥
मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम्।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥
(अथर्व० ८ । ८ । ६, १८)

"तन्त्रोक्त मारणोच्चाटन वशीकरणादि आभिचारिक क्रिया का प्रसङ्ग अथर्व संहिता में पाया जाता है सही, किन्तु तन्त्र के अन्यान्य प्रधान लक्षण नहीं मिलते। ऐसी दशा में तन्त्र को हम अथर्व-संहितामूलक नहीं कह सकते।" (हिन्दुत्व)।

मन्त्र का मनोविज्ञान के साथ तन्त्र का सूक्ष्म भौतिक विज्ञान के साथ और यन्त्र का सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक विज्ञान के साथ सम्बन्ध है। कला मैशीन आदि को यन्त्र कहते हैं, यन्त्र में अमानुषी गुप्त शक्ति होती है, सैंकड़ों और सहस्रों मनुष्यों का काम अल्पकाल में ही यन्त्र द्वारा हो जाता है। रेलगाड़ी प्रथम-प्रथम जब चलने को थी तो कहा जाता था कि एक गाड़ी ऐसी चलेगी जो बिना बैलों के या घोड़ों के हजारों मनुष्यों को अपने में बिठाकर ले जावेगी, लोग इसे जादू की बात समझते थे। एवं सिनेमा के चित्र दिखाने वाली लालटेन को अभी भी मैजिक लालटेन या जादू की लालटेन कहते हैं। कलाएं, मैशीनें स्थूल भौतिक विज्ञान है और अदृष्टरूप शक्ति सूक्ष्म भौतिक विज्ञान है। पृथिवी जैसे भारी गोले का नियन्त्रण भी यन्त्र द्वारा ही हुआ हुआ है "सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने" (ऋ० १०। १४६। १) अर्थात् सूर्य ने यन्त्रों-अदृष्ट शक्तियों द्वारा पृथिवी को निरालम्ब आकाश में सम्भाला हुआ है। तन्त्र शब्द से फैलने वाले प्रयोग अभीष्ट हैं जो पृथिवी, जल और वायु में बिछाये फैलाए जा सकते हैं। जो कि विषैली ओषधियों विद्युत् की लहरों द्वारा रचे जाते हैं। वे दृष्ट हों—बमों (बम) के रूपमें

या अदृष्ट हों—वायव्य रूप (गैस के रूप) में। मन्त्र कहते हैं गुप्त भाषण और मनन करने योग्य सिद्धान्त को, क्योंकि "मत्रि गुप्त भाषणे" (चुरादि०) से मन्त्र शब्द बना है। तथा 'मन्त्रा मननात्" निरुक्त ७ । १२) इससे गुप्त भाषण और रहस्य का नाम मन्त्र हो सकता है। उसका क्षेत्र अधिकारी तक परिमित रहने से वह मन्त्र कहलाया या अधिकारी वा जनसाधारण तक न पहुंचने और उसे न समझ सकने के कारण वह मन्त्र या जादू के नाम से कहा जाता है । उस ऐसे आदेश (Suggestion) का नाम भी मन्त्र है जिसके उच्चारणमात्र से किसी पात्र पर प्रभाव पड़ जावे। वह उसके कहने के अनुसार काम करने लगे क्योंकि वाणी का नाम भी मन्त्र है "वाग्वै मन्त्रः" (श० ६ । ४ । १ । ७ ।) इससे वाग्विद्या और विचार-विद्या का नाम मन्त्र है। वाणी ऐसी परिमित उचित और गम्भीर बोली जावे कि जिससे दूसरे पर तुरन्त प्रभाव पड़े । इस प्रकार विचार करे या दूसरे को विचार दे कि जिससे अपने तथा दूसरे की काया पलट जावे। इस प्रकार के सहसा प्रभावकारी अनुष्ठान या प्रयोग को मन्त्र-विद्या कहते हैं। इसके विभाग हम पांच कर सकते हैं। जिनका कि अथर्ववेद के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है जो कि सङ्कल्प या आवेश (Self Hypnotism or Magnatism), अभिमर्श[1] और मार्जन (Mesmerism), आदेश (Hypnotic

---

१ अज्ञानी जन इसे झाड़ फूंक के नाम से कहते हैं।

Suggestion), मणिबन्धन [२], कृत्या और अभिचार [३]। इन पांच बातोंके द्वारा शारीरिक रोगोंको हटाना, उन्माद–भूतोन्माद आदि मानसिक दोषों को दूर करना, दारिद्र्य (दुर्गति अकर्मण्यता), अलक्ष्मी (अशोभा) को भगाना, निराशा को हटाना, ईर्ष्या आदि मानस पाप का शमन करना, अशान्ति को दूर करना, दुष्ट स्वप्न के प्रभाव को मिटाना, वीरता आदि गुणों का आवेश करना, यातुधान-नाशन अर्थात् हिंसाकारक प्रयोगों और वस्तुओं एवं प्राणियों को नष्ट करना, शत्रु का घात करना, अपने अन्दर से रोगों और दोषों को हटाकर स्वास्थ्य तथा अच्छे गुणों को लाना आदि विषयों का वर्णन अथर्ववेद में है। इन प्रकरणों को यथावत् न समझकर लोगों ने अथर्ववेद में तान्त्रिक मन्त्र जादू को सिद्ध किया।

उपर्युक्त मन्त्रविद्या की पांचों बातों का स्वरूप तथा अथर्ववेद के प्रकरणों को हम क्रमशः अर्थ और व्याख्या एवं विवरणों के सहित विभाजित करके पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हैं। इनमें सङ्कल्प और आवेश की विद्या सर्वश्रेष्ठ है तथा इसका अपने साथ सम्बन्ध है। इसके द्वारा अपना सुधार

---

२ इसी का अशुद्धरूप गण्डा तावीज नक्श डोरा धागा आदि चला हुआ है।

३ इसी को भ्रान्ति से लोगों ने टोना, टोटका मूठ मारना आदि रूप दिया हुआ है।

और अपनी शक्तियों का विकास करना सर्वोत्तम है। पुनः दूसरों के प्रति अन्य विद्याओं या प्रयोगों का होना सम्भव तथा उचित है। अतः प्रथम सङ्कल्प और आवेश की विद्या का वर्णन करते हैं।



द्वितीय पटल

सङ्कल्प और आवेश

प्रबल तथा साधिकार इच्छा का नाम सङ्कल्प है और उसका पुनः पुनः आवर्तन आवेश कहलाता है। मनोविज्ञान का सर्व-प्रथम आधार क्षेत्र सङ्कल्प और आवेश है। मनकी सर्व प्रथम गति सङ्कल्प है अपितु सङ्कल्प ही मन का सार और उसके विकास का कारण है। वेद में संकल्प अर्थात् इच्छा या कामना को मनुष्य के आन्तरिक जीवन की मूर्ति और बाह्य जीवन की पूर्ति बतलाया है।

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। स
काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥
(अथ० १६। ५२। १)

अर्थ—(कामः) इच्छा-सङ्कल्प (अग्रे) प्रथम (समवर्तत) वर्तमान होता है (तत्-यत्) वह जो कि (मनसः) मन का (प्रथमं रेतः) प्रथम सार (आसीत्) है। (स काम) वह तू सङ्कल्प ! (बृहता कामेन) पुनः उद्यत हुए उठे हुए संकल्प के साथ "बृहू उद्यमने बृहू इत्येके" (तुदादि०) (सयोनिः) समानस्थानी-समान क्षेत्र-एक हुवा हुआ-मिला हुआ (यजमानाय) शरीर-यज्ञ के याजक आत्मा या जीव के लिए "इन्द्रो वै यजमानः" (श० ६ । ५ । २ । १६) (रायस्पोषम्) ऐश्वर्य पुष्टि को-अभ्युदय को (धेहि) धारण करा ॥

मन्त्र में बतलाया है कि सङ्कल्प मन का सार है सङ्कल्प ही मनोविकास का कारण और आधार है, मन में प्रथम सङ्कल्प होता है पुनः वह उद्यमरूप सङ्कल्प अर्थात् साधिकार सङ्कल्प बन अभीष्ट भाव को मन में आवर्तित कर के संगृहीत करता है, इस प्रकार पुनः पुनः आवर्त्तन के अभ्यास से मन आन्दोलित हो विद्युत् की भांति अपनी पूर्ण शक्ति को अभीष्ट भाव की ओर प्रेरित करके उसे आकर्षित कर लेता है। जिस प्रकार विद्युत् की दो तरंगे होती हैं, उसकी शक्ति को व्यक्तरूप में लाती हैं और और पुनः विविध कार्य में उपयुक्त करती हैं एवं मन की भी दो तरंगे हैं वेद में उन्हें बोध और प्रतीबोध नाम से कहा है।

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥
(अथ० ५ । ३० । १०)

इस मन्त्र का पूरा अर्थ हम आगे करने वाले हैं, यहां केवल यही बतलाना ध्येय है कि मन की दो तरंगे बोध और प्रतीबोध हैं, इनको लौकिक भाषा में संकल्प और विकल्प कहते हैं । बोध या संकल्प में स्वप्न अर्थात् विस्मृति या तिरो-भाव नहीं होता । वह अभीष्ट भाव में लगा रहता है और प्रतीबोध अर्थात् विकल्प जागृत होता रहता है । वह अनभीष्ट को (जो अभीष्ट नहीं उसे) हटाता रहता है, उसे अभीष्ट से मिलने नहीं देता । इस प्रकार सङ्कल्प (अभीष्ट प्राप्ति की इच्छा) विकल्प (अनभीष्ट निवारण की इच्छा) परस्पर मिलकर सङ्कल्प से किकल्प और विकल्प से संङ्कल्प बल पाकर मानसिक विद्युत् को उत्पन्न कर देते हैं, पुनः विशुद्ध अभीष्ट का आकर्षण और अनभीष्ट का निवारण करके कृतकार्य हो जाते हैं । जैसे विद्युत् की दो तरंगें प्रकाश और दाह को देने वाली हैं, एवं मन की ये सङ्कल्प और विकल्प तरंगें मनुष्य के जीवन क्षेत्र में अभीष्ट गुणों को प्रकाशित और अनभीष्ट को दग्ध कर देती हैं । इसके द्वारा मनुष्य अपने अन्दर से पाप निर्बलता और त्रुटि को दूर कर सकता है तथा सद्गुणों बल और उत्साह का अपने में आवेश कर सकता है । अथर्ववेद में इस प्रकार

दुर्गुणों के बहिष्करण और सद्गुणों के आवेश का प्रतिपादन बहुत स्थलों पर किया है। उनमें से कुछ हम इस ग्रन्थ में देते हैं।

पाप को हटाने का संकल्प—

परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः॥
(अथ० ६।४५।१)

अर्थ—(मनस्पाप) ओ मन के पाप! तू (परः-अपेहि) परे चला जा (किम्) क्योंकि तू (अशस्तानि) निदिन्त बातों को (शंससि) पसन्द करता है (परेहि) दूर चला जा (त्वा) तुझे (न) नहीं (कामये) चाहता हूं। (वृक्षान्) वृक्षों को (वनानि) वनों को (संचर) प्राप्त हो (मे) मेरा (मनः) मन (गृहेषु) स्त्री पुत्रादियों में (गोषु) गौओं में रहे॥

मन में पापभाव आने पर उसे हटाने के लिये यहां वेद ने दो उपाय या प्रयोग बतलाए हैं। एक तो प्रतीबोध या विकल्प अर्थात् अनभीष्ट पापभाव में दोषदृष्टि या घृणा को उत्पन्न करना उसके लिये नगर से बाहर किसी ऐकान्त शान्त जंगल और वन में जाकर घृणा उत्पन्न कर उस पाप भाव को वहां ऐसे त्याग देना जैसे हानिकारक किसी जन्तु को

छोड़ आते हैं । उसके सम्बन्ध में पुनः पुनः दोषदृष्टि या घृणा का आवर्तन कर-कर के पूर्ण-रूपेण सदा के लिये त्याग देना । दूसरे मन में उस पापभाव के स्थान में घर के स्त्री पुत्रादि बन्धुओं के प्रति अपने कर्तव्य का विचार करके मन को उधर लगाए रखना यही मनकी दूसरी शक्ति बोध या सङ्कल्प है । इस प्रकार दोनों के परस्पर आवर्तन, अभ्यास और अनुष्ठान से हटाने योग्य दोष अवश्य दूर हो जावेगा । इसके लिये मानसिक पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये कि मैं इस दोष को हटा दूंगा, हटा कर रहूंगा, उसे हटाना कोई कठिन नहीं, हटाना तो मन का खेल है अवश्य हटा दूंगा ॥

आशा, उत्साह, और सफलता प्राप्ति का सङ्कल्प—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनञ्जयो हिरण्यजित् ॥

(अथर्व० ७ । ५२ । ८)

अर्थ— (कृतम्) कर्म (मे) मेरे (दक्षिणे) दक्षिण (हस्ते) हाथ में (जयः) विजय या सफलता (मे) मेरे (सव्ये) वाम हाथ में (आहितः) प्राप्त है । (गोजित्) मैं गौओं, इन्द्रियों और भूमि का विजेता (अश्वजित्) इन्द्रिय-वृतियों, शक्तियों और राष्ट्र का विजेता (धनञ्जयः) धन ऐश्वर्य और अभ्युदय का विजेता (हिरण्यजित्) सम्पत्ति यश शोभा का विजेता (भूयासम्) होऊं-बनूं ॥

प्रत्येक कार्य करते हुए मन में इस प्रकार आशा और उत्साह को बनाए रखना चाहिए कि कर्म करना और उसमें सफलता प्राप्त करना मेरे दाएं-बाएं हाथों का खेल है। न मैं कर्महीन हो सकता हूं और न उस कर्म में कभी विफल, किन्तु सदैव सफलता प्राप्त करना मेरा अधिकार है। मुझे धैर्य के साथ काम में लगे रहना है शीघ्र नहीं तो देर से कभी न कभी अन्त में सफलता अवश्य ही प्राप्त करना है।

यदि बारम्बार यत्न करने पर भी मनुष्य अपने मानसिक बल से दोषों को दूर न कर सके तथा उत्तम गुणों का आवेश करने में अपने को असमर्थ पावे तो फिर उसे अपने इष्ट-देव की शरण लेनी चाहिये। जगदीश्वर अन्तर्यामी परमात्मा आत्मा का भी आत्मा है उसके प्रति अपने को समर्पित करके दोषों को दूर करने और गुणों को अन्दर प्रविष्ट करने की आत्मभाव से विश्वास के साथ प्रार्थना करनी चाहिए, सफलता अनिवार्य है जैसा कि वेद में दिया है।

त्रुटि, दोष, न्यूनता दूर करने के लिए संकल्प—

अग्ने यन्मे तन्वा ऊनन्तन्म आपृण।

(यजु० ३। १७।)

अर्थ—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन्! (मे तन्वा यद् ऊनम्) मेरे तनु अर्थात् शरीर, इन्द्रियों और मन में जो

न्यूनता त्रुटि निर्बलता असमर्थता या कमी हो (तत्) उसे मेरे अन्दर (आपृण) पूरा कर ॥

शक्तिप्राप्ति के लिये सङ्कल्प—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि ।
बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजोमयि धेहि ।
मन्युरसि मन्युं मयि धेयि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥
(यजु० १९ । ९)

अर्थ—(तेजोऽसि तेजो मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू तेजस्वरूप है मुझमें तेज धारण करा—भर (वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू पराक्रमरूप है मुझ में पराक्रम डाल (बलमसि बलं मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू बलस्वरूप है मुझ में भी बल दे (ओजोऽसि-ओजो मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू ओजमय है मुझ में ओज धारण करा (मन्युरसि मन्युं मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू प्रभावस्वरूप है मुझ में भी प्रभाव धारण करा (सहोऽसि सहो मयि धेहि) हे परमात्मन्! तू साहसस्वरूप है मुझ में भी साहस भर ॥

जैसे विद्यावान् के सङ्ग से विद्या, और तेजस्वी अग्नि के सङ्ग से तेज का लाभ होता है एवं पूर्ण तेजस्वी पूर्ण वीर्यवान् पूर्ण बलवान् पूर्ण ओजस्वी पूर्ण प्रभाववान् और पूर्ण साहसी परमात्मा के सङ्ग से तेज, वीर्य-बल, ओज, प्रभाव और साहस का प्राप्त होना अत्यन्त सम्भव तथा अनिवार्य है ।

जब तेज को प्राप्त करना हो तो परमात्मा को अपने बाहर भीतर सर्वत्र पूर्ण अनन्तरूप से व्याप्त तेजस्वी समझ तन्मय तल्लीन हो अपने अन्दर तेज का आवेश करना चाहिये अपने को उसके सङ्ग से तेजस्वी होने का आन्तरिक प्रयत्न करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये कि मैं अनन्त तेजस्वरूप तेज के भण्डारमें हूं तेजस्वी बन रहा हूं। इसी प्रकार वीर्य-प्राप्ति के लिए अनन्त वीर्यवान् बलप्राप्ति के लिये अनन्त बलवान् ओज प्राप्ति के लिये अनन्त ओजस्वी और साहस प्राप्ति के लिये अनन्त साहसी परमात्मा में निमग्न हो वीर्य, बल, ओज, प्रभाव और साहस का आवेश अपने अन्दर करना चाहिये। इस प्रकार शान्तस्थान और शान्त समय में प्रातः सायं आवेश का अभ्यास करना चाहिये इससे अत्यन्त सफलता प्राप्त होती है।

अवगुणों को दूर करने, सद्गुणों के आवेश करने की भांति रोगों को दूर करने स्वास्थ्य-बल का आवेश करने के लिए भी वेद का विधान है।

रोग दूर करने का संकल्प —

अपेहि मनसस्पतेपक्राम परश्चर ।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मन ॥

(अथर्व० २०। ९६। २४)

अर्थ—(मनसस्पते) ओ मन को पतित करने वाले दुःख देने वाले यक्ष्म अर्थात् रोग ! तू (अपेहि) हट

जा (अपक्राम) दूर होजा (परश्चर) परे चला जा (जीवतः) जीवनधारण करते हुए–जीते हुए के (मनः) मन को (निर्ऋत्यै-'निर्ऋत्याः) आपदा से—दुःख से (बहुधा) अनेक प्रकारों से अनेक उपायों उपचारों के सेवन द्वारा (परः–आचद्व) दृष्टि से परे हो—तिरोहित हो जा—विलुप्त हो जा ॥

मन में संकल्प विकल्प के द्वारा जैसे दुर्भावों को दूर करने और सद्भावों को अन्दर आवेश करने की शक्ति है, एवं रोगों को दूर करने और स्वास्थ्य तथा बल का आवेश करने की भी शक्ति है। क्योंकि मन का स्थान हृदय है "हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु" (यजु० ३४ । ६) हृदय ही जीवनशक्ति का स्थान है वही प्राणशक्ति का केन्द्र है। मानसिक भावनाओं से परिपुष्ट प्राणों की गति होने से रोगों का बहिष्कार और स्वास्थ्य तथा बल का संचार शरीर में हो जाना अनिवार्य है। मन के संकल्प और विकल्प प्राण के रक्षक हैं। वेद में स्पष्ट कहा भी है "ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः। तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्" (अथर्व० ५ । ३० । १०) इन संकल्प विकल्पों के द्वारा रोग दूर करने के प्रकार का संकेत ऊपर "अपेहि मनसस्पते" में किया है।

हाथी के बल को अपने अन्दर आवेश करने का संकल्प—

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत्
तन्वः सम्बभूव ॥

(अथ० ३ । २२ । १)

अर्थ—(हस्तिवर्चसम्) हाथी का बल (प्रथताम्) मेरे शरीर में फैले—विस्तार पावे—प्रविष्ट हो (यत्) जो (अदित्याः-तन्वः) अखण्ड ईश्वरीय शक्ति के मानो शरीर से (बृहद् यशः) महान् यश या बड़ी शोभा बड़े सत्व के रूप में (सम्बभूव) प्रकट हुआ है।

हाथी के बल को अपने अन्दर आवेश करने के सम्बन्ध में मन्त्र का संकेत है। योगदर्शन में संयमप्रकरण में लिखा है "बलेषु हस्तिबलादीनि" (योग। विभूतिपाद। २४) हाथी के बल में संयम अर्थात् धारणा ध्यान समाधि करने से हाथी का बल प्राप्त होता है। हाथी को देखते हुए या उसकी अनुपस्थिति में हाथी की आकृति को मन में चित्रित करके उसके बल को अपने अन्दर लाने का आन्तरिक प्रयत्न करना चाहिए। हाथी अपनी सूंड से वृक्षों की डालों शाखाओं और टहनों को तोड़ देता है, बहुतेरे वृक्षों को भी समूल उखाड़ फैंकता है। एक स्थान पर खड़ा हुआ भी अपने बल की मस्ती में झूमता रहता है इत्यादि बल की चेष्टाओं का अपने अन्दर आकर्षण करना और समझना कि मैं हाथी के उक्त बल को अपने शरीर में प्रविष्ट कर रहा हूं—मेरे शरीर में वह बल आ रहा है इस प्रकार मन से प्रतिदिन कुछ काल तक निरन्तर अभ्यास करने से अपूर्व लाभ प्राप्त होता है। इस विधि का अभ्यास शान्त बैठकर ध्यान द्वारा तथा व्यायाम करते हुए भी

करना चाहिए। व्यायाम करते हुए वैसी ही हाथी-जैसी चेष्टाएं करना और अपने अङ्गों को बीच बीच में देखते जाना. मानसिक प्रभाव डालकर हाथी-जैसी पुष्टि तथा बल लाने का अनुभव करना कि वे पुष्ट हो रहे हैं, उनमें बल आरहा है।

जिस महानुभाव के मन में दोष नहीं और पूर्वोक्त प्रकार से मानसिक एवं आत्मिक बल भी प्राप्त कर लिया हो वह किसी दूरस्थ दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध में शुभ सङ्कल्प करे तो उस के आत्मा में प्रभाव पड़ सकता है। बहुत वार देखा गया है कि शुद्ध मन से किए विचारों की सूचना या स्फुरणा के अनुसार अन्य व्यक्ति अनुकूल आचरण करने लगता है। किसी को मिलने या बुलाने की इच्छा होती है तो वह व्यक्ति तुरन्त मिल जाता है या आजाता है। मन की निर्मलता, एकाग्रता और परस्पर गहरे प्रेम के कारण एक के विचारों का सन्देश (तार) तक दूसरे को पहुंच जाता है। अतएव महात्मा साधुजनों के अन्दर हार्दिक हितचिन्तनभाव और आशीर्वाद हमारे कल्याण करने वाले हो जाते हैं एवं सद्वैद्यों के स्वास्थ्यलाभ पहुंचाने के सङ्कल्प और आश्वासन रोगी के रोगों को हटाने में सहायक बन जाते हैं, यह सङ्कल्पशक्ति का विषय मनोविज्ञान के साथ सम्बन्ध रखता है इसे जादू नहीं कहा जा सकता है।

तृतीय पटल

अभिमर्श और मार्जन

अभिमर्श शरीर में सनसनाहट उत्पन्न कर देने वाले स्पर्श का नाम है। जिस अङ्ग में सनसनाहट उत्पन्न हो जाती है वहां के आन्तरिक तन्तुओं में विचित्र विद्युत् की लहरों-जैसी गति उत्पन्न हो जाती है जो न केवल उस ही अङ्ग पर प्रभाव डालती है किन्तु अन्यत्र भी उसका प्रभाव पड़ जाता है। हाँ, विशेष करके उस स्थान पर होता है। अभिमर्श से रोग तथा मानसिक दोष दूर किये जा सकते हैं। इस अभिमर्शविद्या को पाश्चात्य विद्वान् मेस्मरिज्म (Mesmerism) कहते हैं और अभिमर्श-क्रिया को पास

करना (Passes) कहते हैं। अभिमर्श के द्वारा चिकित्सा करने का अथर्ववेद में वर्णन है, हम यहां कुछ मन्त्रों के द्वारा इसको प्रदर्शित करते हैं।

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवतरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिमृशामसि॥

(अथर्व० ४। १३। ६, ७)

अर्थ—हे प्यारे रोगी! (अयं मे) यह मेरा (हस्तः) हाथ (भगवान्) भाग्यवान् यशस्वी भागधेयी फलवान् है (अयं मे भगवत्तरः) यह मेरा दूसरा हाथ अत्यधिक भाग्यवान् यशस्वी और फलवान् है (अयं मे विश्वभेषजः) यह मेरा हाथ समस्त रोगों का शमनकारक औषधरूप है (अयं शिवाभिमर्शनः) यह सुख शान्ति के स्पर्श वाला है। (हस्ताभ्यां दशशाखाभ्याम्) दशों अंगुलियों सहित हाथों से तथा (ताभ्यामनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्याम्) उन आरोग्यकारक हाथों से (त्वाभिमृशामसि) मैं तुझे अभिमर्श करता हूं—छूता हूं। तथा (वाचः पुरोगवी जिह्वा) वाणीको अग्रसर करने वाली मेरी जिह्वा है उससे तुझे आदेश देता हूं॥

रोगी को खुली अंगुलियों वाले हाथों से अभिमर्श करने का विधान इन मन्त्रों में है। अभिमर्श प्रभावकारी स्पर्श का नाम है और वह तब हो सकता है जब कि रोगी के अङ्गको स्पर्श करने में प्रयोजक के हाथ ढीले हों और अंगुलियों का स्पर्श अङ्ग पर भार न डाले (किञ्चित् ही स्पर्श हो) जो कि अंगुलियों के आगे सरकने से रोगी के उस अङ्ग में या बाहर भीतर त्वचा में एक संस्पर्श (सनसनाहट) उत्पन्न कर दे, इस ऐसे स्पर्श का ही नाम अभिमर्श (Passes) है। ऐसे संस्पर्श (सनसनाहट) से शरीर के तन्तुओं में लहरें चलने लगती हैं, वे आगे बढ़ती हुई नाड़ियों की गति को तीव्र कर देती हैं। इससे रोगी पर एक प्रभाव पड़ता है वह अपने अन्दर विद्युत् जैसी स्फुरणा अनुभव करता है। इस प्रकार आन्तरिक गतियां चालू हो जाने से रोगी का मल नीचे उतरने लगता है अन्य दोष भी यथास्थान पर आने लगते हैं, रक्त में शुद्धि और मन में सुख शान्ति का अनुभव होता है तथा वह नींद में भी चला जाता है, ऐसे कुछ काल करने से रोगी को बड़ा लाभ होता है। माताओं के हाथों की लोरी से बच्चे आराम से सो जाते हैं अभिमर्श दो प्रकार का होता है, एक तो गतिरूप दूसरा स्थानिक। गतिरूप अभिमर्श अंगुलियां फैलाए हुए हाथों को धीरे धीरे ऊपर से नीचे या आड़ी ओर सरकाने को कहते हैं यह रोगों या मानसिक दोषों को दूर करने में हितकर है। दूसरा स्थानिक

अभिमर्श एक स्थान में ही पुनः पुनः स्पर्श करने का नाम है। यह बल सुख शान्ति या सद्भावों के भरने में उपयुक्त है। उक्त दो प्रयोजन अभिमर्श के हैं जो 'अयं मे हस्तो भगवान्' से ऊपर ले मन्त्र में वेद ने कहे हैं। "दशं त उग्रमा भारिषं परा यक्ष्मं सुवामसि।" (अथर्व० ४।१३।५) अर्थात् हे रोगी! तू चिन्ता न कर मैं अपने हाथों द्वारा तेरे अन्दर से रोग को दूर करता हूं और तुझ में बड़े भारी बल स्वास्थ्य सुख को भरता हूं।

यह तो हुआ हस्ताभिमर्श, अब अन्य किसी वस्तु के सम्बन्ध में भी विचार करते हैं जो कि मार्जन या पुरश्चरण कहलाता है जिसे साधारणजन झाड़-फूँक के नाम से कहते हैं।

मार्जन या पुरश्चरण—

मार्जन या पुरश्चरण में जहां तक वैज्ञानिक सम्बन्ध है वहां तक तो वह ठीक है और शेष केवल ढौंग तथा मिथ्या है। मार्जन या पुरश्चरण के साधन पदार्थ जल, वस्त्र, कूर्च आदि हैं। इनके द्वारा मार्जन या पुरश्चरण के एक दो उदाहरण संक्षेप में यहां देते हैं।

जल से—

मस्तिष्क में चक्कर आने, अचेत हो जाने (बेहोशी) और सर्प काटे पर जल के छिड़के देने से लाभ होता है। यह

बात कोई मन्त्रविद्या या जादू की नहीं है किन्तु वैज्ञानिक है और आयुर्वेद के साथ सम्बन्ध रखती है। प्रत्येक डाक्टर और वैद्य इसके साक्षी हैं। जो लोग इसे मन्त्रविद्या या जादू कहते हैं वे भ्रम में हैं। ऐसे लोग किसी साधु या महात्मा के हाथों से बेहोश हुए को जल छिड़के जाने पर होश में आजाना उसको मन्त्रविद्या या जादू समझते हैं। क्योंकि वे आयुर्वेद शास्त्र से अनभिज्ञ होते हैं उन्हें जल के गुणों, प्रभावों और जलचिकित्सा का ज्ञान नहीं। देखिये जल में मूर्च्छा अर्थात् बेहोशी आदि रोग हटाने के गुण आयुर्वेद में बतलाये हैं "पानीयं श्रमनाशनं क्लमहर मूर्च्छापिपासाहम्।" (भावप्रकाश निघण्टु)

वस्त्र से—

जल में भीगे मोटे वस्त्र का स्पर्श आंखों और सिर-दर्द तथा अचेतता को हितकर है। यहां तक तो ठीक है परन्तु किसी व्यक्ति को रुमाल मारकर जादू से अचेत कर देना अवैज्ञानिक है। रुमाल में कोई अचेत कर देने वाली गन्ध लगा देने से ऐसा हो जाता है।

कूर्च से—

कोई कोई रोग ऐसा होता है जो कि किन्हीं बालों के पुरश्चरण अर्थात् झाड़न, ब्रुश से दूर होते हैं। अतिप्राचीन काल से चमरमृग (चंवरी गौ) के पुच्छ की बालमञ्जरी का उपयोग चला आता है उसके स्पर्श से त्वचा के दोष, कृमियों के

संसर्ग से हुए हुए रोग दूर होते हैं, शरीर में ओज बल प्राप्त होता है। स्वयं अथर्ववेद में कहा भी है "यद्दमं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विवृहामसि" (अथर्व० २। ३३। ७) कश्यप का अर्थ वैद्यक-शब्द-सिन्धु में मृग विशेष दिया है जो चमरमृग के लिए है "कश्यपः मृगविशेषः" (वैद्यकशब्दसिन्धुः) शरीर में पित्ति उछल आने पर जुलाहे के ताना संवारने वाले कूचे (कुश) से पुनः पुनः अनुलोम स्पर्श से पित्ति दब जाती है। इसी प्रकार तृणों के पुरश्चरण झाडू से झाड़ने या स्पर्श से कई रोगों में लाभ होता है विशेषतः रक्तविकार के रोगों को। पर लोग इनको मन्त्र या जादू का प्रयोग समझते हैं। इनके द्वारा चिकित्सा करने वाले लोग अपना प्रभाव जमाने को कहते हैं कि हमने मन्त्र या जादू के बल से रोग को झाड़ दिया।

रोगों को दूसरों पर उतारने की समस्या—

कुछ लोगों का कथन है कि मार्जन से रोगी के रोग को दूसरे प्राणी और वनस्पति आदि पर उतारा जा सकता है ऐसा अथर्ववेद में दिया है। इसके सम्बन्ध में हमारा कहना कि इस विषय के समझने में जनता में कुछ भ्रान्ति है, क्योंकि वैज्ञानिक तथा आयुर्वेदिक नियमों के अनुसार मानना तो ठीक है परन्तु प्रतिकूल कल्पना मिथ्या है। यह वैज्ञानिक या आयुर्वेदिक या जीवनसृष्टि का नियम है कि मनुष्य आदि प्राणियों के शरीर के अन्दर से निकला वायु जो कि उनके

लिए दूषित समझा जाता है वह वनस्पतियों के लिए अनुकूल है एवं वनस्पतियों से निकला वायु जो उनके लिए दूषित है, वह मनुष्य आदियों के लिए अनुकूल हैं। यदि मनुष्य आदि के उक्त दूषित वायु को वनस्पतियां न लें और वनस्पतियों के दूषित वायु को मनुष्य आदि ग्रहण न करें तो दोनों का जीवन स्वस्थ नहीं रह सकता। यह बात केवल वायु तक ही नहीं उनके मलों के भी परस्पर ग्रहण करने का व्यवहार है। मनुष्य आदि के मल मूत्र आदि वनस्पतियों के हितकर हैं। एवं वनस्पतियों के छाल, गोन्द, मद आदि दोष मनुष्य आदि के हितकर हैं। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य आदियों के दोषों रोगों को वनस्पतियां अपनाती हैं और वनस्पतियों के दोषों को मनुष्य आदि अपनाते हैं। जब यह है तब मनुष्य आदि के रोगों का वनस्पतियों पर अवतरण होता है या वनस्पतियां उन रोगों को आकर्षित करती हैं और वनस्पतियों के रोगों का अवतरण मनुष्य आदियों पर होता है या मनुष्य आदि उन्हें अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस लिए मनुष्य आदि के रोगों का अवतरण वनस्पतियों पर होता है यह कोई मन्त्र या जादू की बात नहीं है। एवं मनुष्य आदि प्राणियों में भी परस्पर यही नियम है मनुष्यों के दोषों या रोगों को पशु पक्षी अपनाते हैं वे इनके लिए दोष या रोग नहीं किन्तु जीवन है। पशु पक्षियों के दोषों को मनुष्य अपनाते है उनके लिए वे दोष

नहीं किन्तु औषधरूप हैं। हां इसमें भी प्रत्येक वनस्पति मनुष्य के रोगों और दोषों को अपनावे या प्रत्येक वनस्पति या पशु पक्षी के दोष को मनुष्य अपनावे ऐसा नहीं; किन्तु जिस वनस्पति को मनुष्यादि का जो दोष अनुकूल होता है वही उसे अपनाता है एवं जिस वनस्पति या पशु या पक्षी का जो दोष जिस किसी मनुष्य को अनुकूल होता है वही अपनाता है। जैसे मनुष्य के क्षय रोग के दोषों या क्षय रोग से दूषित वायु को वनस्पतियों में चील (चीड़) का वृक्ष और पशुओं में बकरी तथा बन्दर अधिक अपनाते है। ऐसे ही मनुष्य के कामला (पीलिये) दोष को दारुहल्दी के वृक्ष और हरिये तोते आदि पक्षी अपनाते हैं। इत्यादि बातें वैज्ञानिक आयुर्वैदिक और जीवन-सृष्टि की विद्या के साथ सम्बन्ध रखती हैं कोई जादू नहीं है। यदि ऐसी बातें अथर्ववेद में आई हैं तो आश्चर्य ही क्या है। यहां हम उन दो-एक ऐसी बातों को दर्शाते भी हैं।

शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥
(अथर्व० १ । २२ । ४)

अर्थ—(ते) हे रोगी ! तेरे (हरिमाणम्) हलीमक कामला रोग को (शुकेषु) शुकों—तोते पक्षियों। तथा (रोपणाकासु) सदा रोहण करने वाली हरी-भरी दूब के पौधों में (दध्मसि) धरते हैं (अथो) और (ते हरिमाणम्) तेरे

हलीमक कामला रोग को (हारिद्रवेषु) हरिद्रु वृक्ष अर्थात् दारुहल्दी के वृक्ष के समूह में "तस्य समूहः"–"अनुदात्तादेरञ्" (अष्टा० ४।२।३७,४४) (निदध्मसि) निहित करते हैं विलुप्त करते हैं।

हलीमक कामला के रोगी के पास तोते रहने चाहिएं उसे हरी हरी दूब घास में घुमाना, सैर कराना और बिठाना चाहिए। दारुहल्दी के जङ्गल में उसका निवास कुछ काल तक कराना अत्यन्त उपयोगी है। हरे रंग के तोते, हरी घास और दारुहल्दी के वृक्ष उसके हरियाले पीलिए कामले पाण्डु रंग का आकर्षण कर लेंगे ऐसा यहां मन्त्र में सूचित किया है। आयुर्वैदिक निघण्टु में दूब को 'रुहा' कहा भी है जो मन्त्र में दिए 'रोपणाका' का पर्याय है और इसे रक्तशुद्धि करने वाली जीवन देने वाली लिखा भी है "नीलदूर्वा तु मधुरा तिक्ता रुचिप्रदा। संजीवनी च तुवरा रक्तशुद्धिकरो मता।" हरिद्रु अर्थात् दारुहल्दी को राजनिघण्टु में अङ्गकान्ति करने वाली अर्थात् रक्त शोधक, रक्तवर्द्धक, पाण्डुता या पीलापन और हरापन नष्ट करने वाली बतलाया है "हरिद्रुः शीतलस्तिक्तो मङ्गल्यः पित्तवान्तिजित्। अङ्ग कान्तिकरो बल्यो नानात्वग्दोषनाशनः।" (राजनिघण्टु ६। २७) इस प्रकार हलीमक कामला रोग वाले रोगी को हरिया (हरियाले) तोतों हरीदूब के स्थलों और दारुहल्दी के वृक्षों में निवास भ्रमण आदि द्वारा स्वस्थ करना कोई मन्त्र जादू से

रोग को उन पर उतारना नहीं कहा जा सकता किन्तु उक्तरोग को आकर्षित करना रोगी के शरीर से बाहर निकालना उनका गुण है।

तथा—

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य। यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥

(अथ० १। १२। ३)

अर्थ—(शीर्षक्त्याः) उन्माद आदि शिरोरोग से (उत) तथा (यः) जो (वातजाः) वातप्रकोप से उत्पन्न वातिक (शुष्मः) शोषक पित्तप्रकोप से उत्पन्न पैत्तिक (च) और (यः) जो (अभ्रजाः) घनरूप कफप्रकोप से उत्पन्न श्लैष्मिक (कासः) खांसी रोग—क्षयरूप खांसी रोग (यः) जो (अस्य) इस रोगी के (परुष्परुः) जोड़ जोड़ में (आविवेश) घुसा हुआ है या घुस बैठता है, उससे (एनम्) इस रोगी को (मुञ्च) छुड़ा। वह रोगी (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (च) और (पर्वतान्) पर्वतों को (सचताम्) सेवन करें "षच सेचने सेवने च" (भ्वादिः)।

मन्त्र में बतलाया है कि उन्माद आदि शिरोरोग का रोगी और क्षय खांसी वाला रोगी वनों पर्वतों का सेवन

करे। आजकल उक्त रोगों के रोगियों को डाक्टर लोग वनों-पर्वतों में रहने की अनुमति देते भी हैं और वे वहां रह कर स्वस्थ हो जाते हैं यही बात वेद ने कही है। यह भी मन्त्र या जादू की बात कोई नहीं है।

विशेष—हमने उक्त अर्थ में 'सचताम्' क्रिया का कर्ता रोगी को बनाया है और वास्तव में रोगी ही उसका कर्ता है वह वनस्पतियों—वनों, पर्वतों को सेवन करता है प्रत्यक्ष भी ऐसा ही है। परन्तु सायणानुसार जो कोई भी रोग वातिक पैत्तिक श्लैष्मिक हो वह वनस्पतियों और पर्वतों को प्राप्त हो— उनके अन्दर घुस जावे उनमें उतर जावे। ऐसा अन्वय और अर्थ करने में मन्त्र का 'शीर्षक्ति' और 'कास' रोग को पृथक् पढना निरर्थक हो जाता है क्योंकि ये दोनों रोग भी आजाते। "इदानीं वातपित्तश्लेष्मविकारजनितानां सर्वेषामपि व्याधीनां अस्मात्पुरुषादन्यत्रावस्थानं प्रार्थयते यो अभ्रजा इति" अतः 'यो अभ्रजा' आदि विशेषण कास रोग के हैं उसके साथ अन्वय करना चाहिए। पुनः अब दो रोग ही रहे 'शीर्षक्ति' (उन्माद आदि शिरोरोग) और 'कास' (क्षय खांसी) फिर 'मुञ्च' क्रिया का 'एनम्' पद रोगी वाचक शेष रह जाता है, उसके रोग से छूटने की विधि यह है कि वह रोगी वनस्पतियों वनों पर्वतों का सेवन करे उनमें रहे। यह शुद्धार्थ हुआ। कदाचित् मान लिया जावे कि रोग उन वनस्पतियों और पर्वतों को प्राप्त हो। इसका भी वही

तात्पर्य होगा जो हम मन्त्रार्थ में तथा उससे पूर्व बतला आए हैं कि वन के वनस्पतियों और पर्वत अर्थात् पर्वतीय ओषधियों में उक्त रोगों के दोषों के खींचने की शक्ति है। परन्तु एक बात यहां पर्वत शब्द के साथ होने से रोग का अवतरण पर्वत पर घटाना दुष्कर ही नहीं किन्तु असम्भव भी है क्योंकि वह निर्जीव जड़ है। पर्वत पर रोग का उतरना ऐसा समझना चाहिए जैसे पृथिवी जल वायु पर रोग को उतारना हो। उक्त पृथिवी वायु आदि में तो हर समय प्राणियों के रोग उतरते रहते ही हैं इसमें मन्त्र या जादू के यत्न की आवश्यकता ही क्या है। तात्स्थ्योपाधि से 'पर्वतीय-ओषधियां' अर्थ लेने में बात एक ही है जैसा कि पूर्व बतलाया जा चुका है परन्तु यहां तो वही अर्थ शुद्ध है जो हमने किया है। इसलिए मन्त्र या जादू की बात यहां कुछ भी नहीं है केवल वही आयुर्वैदिक सिद्धान्त की बात है॥ अस्तु॥



चतुर्थ पटल

आदेशविद्या या संवशीकरण

सबल और सफल आश्वासन या उपदेश का नाम आदेश है जिसका कि पात्र पर प्रभाव अनिवार्य हो। आदेश द्वारा किसी रोगी के रोग को दूर करना उसके अन्दर स्वास्थ्य को लाना, किसी दुर्व्यसनी या पापी के दोषों को हटाना और उसके अन्दर सद्गुणों को लाना ओजबल एवं वीरता को प्रविष्ट कराना आदि होता है। आदेश से प्रायः सभी रोगों में लाभ होता है परन्तु विशेषतः मानसिक रोगों एवं शारीरिक स्थायी, चेत्रिय, चय, पाण्डु तथा मस्तक के रोगों में अतीव लाभ होता है। आदेश के अन्दर प्रयोजक (प्रयोग करने वाले) की वाणी और मन काम करते हैं और इन दोनों

के द्वारा पात्र (प्रयोग जिस पर हो उस) के मनपर प्रभाव प्रथम पड़ता है, मन समस्त शरीर, प्राणों-प्राणाशयों और इन्द्रियों को प्रेरित करने वाली विद्युत्-शक्ति है। मन प्रभावित हुआ स्वानुकूल स्वशक्ति से इन सबको चेष्टायमान करता है। पुनः शीघ्र या धीरे धीरे साधनानुसार अभीष्ट परिणाम का साधक हो जाता है। अथर्व वेद में इन सब विधियों, प्रयोगस्थलों और परिणामों का वर्णन है। यहां कुछ मन्त्रों द्वारा इस विषय पर सक्रम प्रकाश डालते हैं। हम पीछे 'अभिमर्श और मार्जन' प्रकरण में एक मन्त्र लिख आए हैं जिसमें हाथों के अभिमर्श (स्पर्श) द्वारा किसी के शरीर पर प्रभाव डालना बतला आए हैं उसी मन्त्र में आदेश देकर प्रभाव डालना भी दिया है, वहां मन्त्र में स्पष्ट कहा है।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिमृशामसि॥
(अथर्व० ४। १३। ७)

मन्त्र में जहां यह कहा है कि मैं रोग दूर करने वाले हाथों से तुझे अभिमर्श (स्पर्श) करता हूं या तुझ पर अभिमर्श करता हूं वहां साथ में "जिह्वा वाचः पुरोगवी" मेरी जिह्वा भी वाणियों-आदेशों को अग्रसर करने वाली है। उस जिह्वा से या उन वाणियों आदेशों से भी तुझे स्वस्थ और स्वच्छ करता हूं। यह तो हुआ प्रयोजक की वाणी का प्रभाव पात्र पर

डालना तथा प्रयोजक के मन का प्रभाव भी पात्र पर पड़ता है। वाणी से आदेश तो दिया ही जाता है परन्तु साथ में प्रयोजक-द्वारा मन के अन्दर रोगी के रोग एवं दोष दूर करने, उसे स्वस्थ एवं स्वच्छ बनाने के लिये सङ्कल्पप्रधानता अर्थात् आन्तरिक सद्भाव हितचिन्तन और हार्दिक इच्छासे आदेश देने की आवश्यकता है। इस प्रकार प्रयोजक के मन का पात्र के ऊपर प्रभाव पड़ता है ऐसा वेद में कहा है। पात्र के ऊपर प्रभाव डालने के लिये प्रथम उसके मन को अपनी ओर आकर्षित करना चाहिए ऐसा वेद में लिखा है और उसके लिये पात्र के प्रति कहा है कि—

यद्वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तद्व आवर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥
(अथर्व० ७। १२। ४)

अर्थ—(यद् वो मनः परागतम्) हे प्यारे पात्र! जो तुम्हारा मन कहीं दूर की सोच रहा हो (यद् इह वा-इह वा बद्धम्) या इधर उधर वासना आदि में बन्धा हुआ हो (तद् वः-आवर्तयामसि) उस तुम्हारे मन को मैं अपनी ओर लाता हूं (वो मनो मयि रमताम्) तुम्हारा मन मेरे में रमण करे-मेरी ओर रहे कि मैं क्या करता हूं॥

जिस व्यक्ति पर प्रयोग करना हो प्रयोजक उसे अपने सम्मुख शान्ति से आराम से बिठलाकर कहे कि तुम

अपने मन को इधर उधर से हटाकर निश्चिन्त हो मेरी ओर ध्यान रखो, मैं जो हितकर सङ्कल्प अपने मन में लाऊंगा तुम्हारा मन उधर लगेगा, निश्चय मैं तुम्हारे मन को अपनी ओर आकर्षित करता हूं अब तुम्हारा मन मेरे ऊपर निर्भर रहेगा।

तथा—

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनु वर्त्मान एत॥
(अथर्व० ३।८।६)

अर्थ—(अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि) हे पात्र ! मैं अपने मन से तुम्हारे मन को अपनाता हूं—स्वानुकूल बनाता हूं (मम चित्तमनु चितेभिः-एत) मेरे चित्त के अनुकुल अपने चित्त से चलो—मेरी विचारधारा के अधीन अपनी विचारधारा करो (मम वशेषु वः-हृदयानि कृणोमि) मैं अपने वश में तुम्हारे हृदय को करता हूं (मम यातमनु वर्त्मान एत) अब मेरे बतलाए मार्ग पर चलोगे॥

हे प्यारे पात्र ! देखो तुम्हारा मन अब मेरे अधीन हो गया मैंने तुम्हारी विचारधारा को अपने अनुकूल कर लिया उसे रोक लिया और तुम्हारा हृदय भी मेरे वश में होगया। बस अब तुम्हारे इस शरीर और मन पर तुम्हारा अधिकार नहीं रहा किन्तु मेरा पूरा अधिकार हो गया। अतएव तुम्हारा शरीर शिथिल हो गया और मन भी निश्चेष्ट हो गया। इस लिये तुम शान्ति

और विश्राम की स्थिति में होने के समान हो गए। सचमुच तुम सुषुप्ति की ओर जाते हुए से निश्चल हो गए परन्तु मेरे आदेश को सुनते हुए उनका अपने अन्दर प्रवेश करोगे उसके अनुसार अपने जीवन को बनाओगे। तुम सच्चे पात्र हो तुम अवश्य उन पर चलोगे। हाँ सुनो—

मानसिक दोष दूर करने का आदेश—

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि॥ १॥

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥ २॥

अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव॥ ३॥

(अथर्व० ६। १८। १-३)

(ईर्ष्यायाः प्रथमां ध्राजिम्) ईर्ष्या—डाह की प्रथम तरङ्ग—लहर वेग को (उत) तथा (प्रथमस्या अपराम्) प्रथम तरङ्ग-लहर से अगली तरङ्ग लहर या वेग को जो कि (ते) हे प्यारे पात्र! तेरे (हृदय्यं शोकमग्निं तम्) हृदय में स्थित जलती हुई अग्नि है उसको (निर्वापयामसि) शान्त करता हूं। क्योंकि—

(यथाभूमिर्मृतमनाः) जैसे भूमि मरे मन की है–जड़ है (मृतात्-मृतमनस्तरा) अपितु मरे जीव से–मुर्दा देह से अधिक मरे मन वाली अत्यन्त मुर्दा जड़ है (उत) तथा (यथा मम्रुषो मनः) जैसे मर चुके जीवका मन अभावत्व को प्राप्त हो जाता है (एव) ऐसे ही (ईर्ष्योः) ईर्ष्यालु ईर्ष्याशील मनुष्य का (मनः) मन (मृतम्) मर जाता है मरा हुआ हो जाता है अभावरूप को या जड़ता को प्राप्त हो जाता है ॥ अत एव—

(ते) हे प्यारे पात्र ! तेरे (हृदि) हृदय में (श्रितम्) स्थित (अदः-यत्) वह जो (पतयिष्णुकम्) पतन-शील-व्यग्र-चंचल-अशान्त (मनस्कम्) दयनीय मन है (ततः) उससे (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या-डाह को (दृतेः–ऊष्माणमिव) चमड़े की धोंकनी से फूंक की भांति (निर्मुञ्चामि) निर्मुक्त करता हूं—बाहर निलकता हूं ॥

इन तीन मन्त्रों में ईर्ष्या को दूर करने का आदेश दिया है। वह इस प्रकार कि पूर्व मन्त्रों के अनुसार पात्र को सम्मुख बिठला कर आश्वासन के साथ उसके मन को अपनी ओर आकर्षित करके तथा स्वाधीन और अनुकूल बनाकर सर्वथा शान्त सोए हुए जैसी अवस्था में लाकर उपर्युक्त ईर्ष्या दूर करने का आदेश दे कि "मेरे प्यारे पुत्र आदि पात्र ! तुम्हारे अन्दर जो ईर्ष्या है—दूसरों की उन्नति समृद्धि देखकर जलना

द्वेष करना है यह बहुत बुरा है हृदय के अन्दर यह धधकती अग्नि है तुम्हारे हृदय, जीवनरस, रक्त, और शरीर को जलाने वाली है इसे मैं बुझाता हूं बुझा रहा हूं अब तुम्हारे अन्दर वह फिर न सुलगेगी तुम फिर कभी इसे सुलगाने का यत्न न करना यह ईर्ष्यारूप अग्नि मन को भी भस्म बना देती है उसकी शक्ति को नष्ट कर देती है पुनः वह मनुष्य जड़ पदार्थ या मुर्दे जैसा विचारहीन हो जाता है। वह हृदय में रखा मन अपनी शक्ति से युक्त रहे अतएव मैं तुम्हारे मन के अन्दर से इस ईर्ष्या को बाहर निकालता हूं और ऐसी सुगमता से कि जैसे चाम की धोंकनी से भरी फूंक जरा दबाने से बाहर निकल जाती है। निश्चय रखो मैं तुम्हारी ईर्ष्या को बाहर निकाल रहा हूं—वह निकल रही है—वह समय शीघ्र आवेगा जबकि सर्वथा बाहर निकल जावेगी। तुम स्वयं अनुभव करोगे कि वह बाहर निकल रही है। जब तुम देखोगे कि तुम्हारा मन शान्त प्रसन्न और मस्तिष्क उष्णता से रहित ठण्डा हलका तथा हृदय घबराहट से पृथक् हलका स्वस्थ और स्वच्छ है। इस प्रकार प्रतिदिन तुम अपने को ईर्ष्या-अग्नि से अधिकाधिक अलग पाओगे"। ऐसे सायं प्रातः प्रतिदिन शान्त समय और एकान्त स्थान में पात्र को आदेश देने से अत्यन्त लाभ होता है। मानसिक दोषों को दूर करने के सम्बन्ध में वेद का यह आदेश एक उदाहरण मात्र है इसी

प्रकार अन्य दोषों को आदेशों से दूर किया जा सकता है ॥

उन्माद रोग के लिये आदेश—

अग्निष्टे निशमयतु यदि ते मन उद्युतम् ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोससि ॥
(अथर्व० ६ । १११ । २)

अर्थ—(यदि ते मन उद्युतम्) हे प्यारे पात्र ! यदि तेरा मन उच्चाट हो गया उखड़ गया है-अव्यवस्थित हो गया है तो (अग्निः-ते निशमयतु) अग्नि उसे बिल्कुल शान्त और ठीक कर देगा (यथाऽनुन्मदितोऽससि) जिस प्रकार कि तू उन्माद रहित हो जावे। इस प्रकार (विद्वान् भेषजं कृणोमि) सब जानते हुए चिकित्सा इलाज करता हूं।

इस मन्त्र में उन्माद रोग के रोगी को आदेश दिया है। उन्माद रोग दो प्रकार का होता है एक शान्त दूसरा प्रलाप-वाला। मस्तिष्क के आन्तरिक तन्तु जब विशेष कफलिप्त या जड़ हो जाते हैं तब मन मूढ होकर शान्त उन्माद को उत्पन्न करता है इसे आयुर्वैदिक परिभाषा में उन्माद या शान्त उन्माद कहते हैं और जब मस्तिष्क में वातपित्त-प्रकोप से तन्तु क्षुब्ध या दग्ध हो जाते हैं तब मन क्षिप्त विक्षिप्त और भ्रम-युक्त होकर प्रलापोन्माद को उत्पन्न करता है इसे आयुर्वैदिक परिभाषा में भ्रमोद्वेग तथा भूतोन्माद कहते हैं। इस भ्रम-जन्य

उन्माद में भ्रम से रोगी अपने अन्दर विषम बातों को अनुभव करता है या पुरातन मिथ्याविश्वास के संस्कारों से भिन्न भिन्न विकट स्थितियों की कल्पनाएं अपने अन्दर कर लेता है और मैं भूत, प्रेत, चुड़ैल, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा आदि हूं ऐसा प्रलाप करने लगता है। ऐसा उन्माद अग्नि में लाल-मिर्च, राई, सरसों, वायविडङ्ग, हींग, लशुन आदि चरपरी और तीक्ष्ण ओषधि को डालकर धूंआ सुंघाने से दूर हो जाता है क्योंकि उस चरपरे और तीक्ष्ण धूंए से मस्तिष्क के तन्तुओं में उसकी परिस्थिति से विपरीत गति और सचेतता मिलती है। मस्तिष्क में उस भूत आदि के भ्रम या कल्पना का अनवसर या अभाव हो जाता है पुनः तुरन्त आदेश साथ में देने से रोगी अनुभव करता है कि उन्माद-चिकित्सक के प्रभाव से उन्माद दूर हुआ है यह विश्वास हो जाने से पुनः वह उन्माद चला जाता है। इसी प्रकार शान्त उन्माद रोग में अग्नि के अन्दर सात्विक गन्ध वाले कपूर, चन्दन, तुलसी या तुलसीबीज अथवा सुगन्ध होम करके धूंआ सुंघाने से रोगी के मस्तिष्क के तन्तुओं में विकास जागृति और प्रसाद आता है, पुनः वह स्वस्थ हो जाता है। दोनों प्रकार के उन्माद रोगी तब अपने मन और मस्तिष्क तन्तुओं को सचेत स्वस्थ प्रसन्न अवस्था में अनुभव करते हैं साथ ही चिकित्सक को आदेश देते हुए देखकर अपने को उसके आदेश से अच्छा

हुआ समझते हैं पुनः पुनः आदेश से अपने को उत्तरोत्तर उस उन्माद रोग से रहित स्वस्थ अनुभव करते जाते हैं। हमने भी इस विधि से कई एक उन्माद रोगियों को स्वस्थ किया है इस विधि में कोई मन्त्र या जादू की बात कुछ भी नहीं है। अन्य उन्माद चिकित्सक ऐसा प्रसिद्ध करते हैं कि हम मन्त्र पढ़ या जादू करके तुम्हारे उन्माद और भूत आदि को दूर करते हैं केवल यह उन्माद रोगी को विश्वास दिलाने मात्र की बात है। वास्तव में उन्माद रोग के दूर होने का कारण है अग्नि में ओषधिधूप और आश्वासन। ऐसे रोगों में मन्त्रानुसार इस प्रकार आश्वासन देना चाहिये कि "हे प्यारे पात्र ! अग्नि देवता तुम्हारे रोग को शान्त कर रहा है उस भूत प्रेतादि का शमन कर रहा है। मैं भी उन्माद को दूर करने भूत भगाने में कुशल हूं उस उन्माद रोग और भूत आदि का दमन तथा उसे अग्नि में भस्म कर रहा हूं तुझे अच्छा कर रहा हूं, उस भूत आदि को भगा रहा हूं। बस तुम अब अच्छे हो रहे हो बहुत कुछ अच्छे हो गए हो बस अब बिल्कुल अच्छे हो गए भूत प्रेत भाग गया भगा दिया, जल गया उसे जला दिया अग्नि में भस्मीभूत हो गया उसे भस्म कर दिया। उठो जाओ अब कभी फिर न आवेगा सदा के लिये उससे तुम छूट गए"। यहां अग्नि से उन्माद के दूर होने का साधन अग्नि अर्थात् अग्नि में होम करना धूप देना है जो इससे पूर्व के मन्त्र में स्पष्ट है "इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति । अतोधि ते

कृणवद् भागधेयं यथानुन्मदितोऽससि ॥" हे अग्नि ! यह जो उन्मादी पुरुष सुनियन्त्रित और बन्धा हुआ भी प्रलाप करता है इसे तू उन्माद रोग से छुड़ा अतएव तेरे अन्दर 'भागधेय' आहुति देते हैं होम करते हैं—धूप डालते हैं जिससे यह उन्माद रहित हो जावे ॥

यक्ष्मज्वर-क्षय रोग दूर करने के लिए आदेश—

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोयनम् ॥ ७ ॥
मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥
अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥ ६ ॥
इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा ।
त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥ १६ ॥

(अथर्व० । ५ । ३० । ७-६, १६

अर्थ—(अनुहूतः) हे प्यारे रोगी ! तू मेरे द्वारा आमन्त्रित हुआ-मेरी ओर आकर्षित हुआ-मेरे आदेशानुकूल बन (विद्वान्) समझदार होता हुआ (पथः-उदयनम्) जीवन पथ के उदय को-स्वास्थ्य को (पुनः-एहि) फिर प्राप्त कर और (आरोहणम्-आक्रमणम्) उस जीवन पथ के आरोहण

अवलम्बन तथा आक्रमण आगे बढ़ने को भी प्राप्त हो। यही (जीवतो जीवतः-अयनम्) प्रत्येक जीवित रहने वाले का आश्रय है-लक्षण है।

(मा बिभेः) न डर (न मरिष्यसि) नहीं मरेगा-नहीं मर सकता (त्वा जरदष्टिं कृणोमि) तुझे जरावस्थापर्यन्त जीने वाला-बुढापे तक जीने वाला-पूर्णायु तक जीने वाला करता हूं (तव-अङ्गेभ्यः) तेरे अङ्गों से (अङ्गज्वरं यक्ष्मम्) अङ्गों को पीड़ित करने वाले यक्ष्म रोग-क्षय रोग को (अहं निरवोचम्) मैं निराकृत-निवृत्त करता हूं ।

(यश्च) और जो (अङ्गभेदः) अङ्गों को तोड़ने वाला (अङ्गज्वरः) अङ्गों में ज्वर करने वाला (हृदयामयः) फेफड़ेसहित हृदय को रोगी बनाने वाला-विकृत करने वाला है। वह (ते यक्ष्मः) तेरा यक्ष्मरोग क्षय (वाचा परस्तरां साढः) मेरी वाणी से-आदेश से अत्यन्त तिरस्कृत हुआ-ताडित हुआ (श्येन इव प्रापप्तत्) बाज पक्षी की भांति-बाज या चील निशाने से ताडित किया हुआ जैसे नीचे गिर पड़ता है ऐसे ही तेरा क्षय रोग रुग्ण स्थान या शरीर से बाहर गिर पड़ता है छिन्न भिन्न होजाता है-नष्ट हो जाता है।

(इयं बद्धा पनिष्पदा जिह्वा) यह सुनियन्त्रित-मित भाषण और सत्यभाषण में संयमित तथा विद्युत् की भांति

पुनः पुनः स्पन्दन करती हुई लहरें फेंकती हुई मेरी वाणी (अन्तर्वदति) अन्दर से कह रही है—भीतर से बोल रही है कि (त्वया) तुझ चिकित्सक से प्रेरित की हुई अथवा तुझ रोगी से 'विभक्ति व्यत्ययः' (यक्ष्मम्) यक्ष्मा रोग को (निरवोचम्) निराकृत निवृत्त कर देती हूं। तथा (तक्मनः शतं रोपीश्च) रोग के सैकड़ों और सहज रोगाङ्कुरों-उपद्रवों को भी निराकृत कर देती हूं—हटा देती हूं।

यक्ष्मा या क्षयरोग होने पर फेफड़ों में दर्द रहता है, अङ्ग अङ्ग में ज्वर और हृदय में घबराहट होती है, हृदय में रक्त के जीवन कणों का क्षय होता रहता है जीवन की आशा मरती रहती है। इसी यक्ष्मा या क्षयरोग के लिए मन्त्रों में आदेश द्वारा चिकित्सा करने का विधान है। यहां आदेश में शक्ति कैसे आती है इसका भी प्रतिपादन है "इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा" मितभाषण गम्भीरता से तथा सत्य भाषण से संयमित वाणी हार्दिक भावों से प्रेरित—मानसिक सङ्कल्पों से पुष्ट हुई रोगी के रोग दूर करने की प्रबल आन्तरिक भावना से परिपूर्ण वाणी द्वारा आदेश चिकित्सक दे कि "हे प्यारे! तू मेरी ओर आकर्षित हुआ हुआ समझ के साथ अपने जीवन-मार्ग के उदय को अनुभव कर, स्थिरता से जीवनयात्रा में आगे बढ़, बस जीवन का लक्षण यही है। हे प्यारे! तू भय मत कर, भय की कोई बात नहीं तू मर नहीं सकता, तू मेरे

हाथों में आगया है मैं तुझे पूर्ण आयु तक ले जाऊंगा-तेरे अन्दर से इस यक्ष्मा या क्षयरोग को मैं निःसन्देह बाहर निकाल दूंगा। मेरे अन्दर से यह आवाज आरही है कि तुम इस रोग से निर्मुक्त हो जाओगे बिल्कुल मुक्त हो जाओगे। मैं इसे दूर कर रहा हूं-यह दूर हो रहा है। अब तुम्हारे रक्त के जीवन कण बढ़ने आरम्भ होगए और दिनों दिन बढ़ते जावेंगे अतः शरीर का भार भी बढ़ता जावेगा। रक्त के जीवन-कणों एवं शरीरभार की वृद्धि का प्रारम्भ ही क्षय रोग के नष्ट होने की सूचना है। क्षय रोग दूर तभी होता है जबकि जीवित रहने के विचार बलवान् होते हैं तुम्हारे अन्दर जीवित रहने के विचार प्रबल रूप में होते जावेंगे और तुम बस अब बिल्कुल स्वस्थ हो जाओगे" तुम जीवनवान् पुष्ट हाथी आदि प्राणी या सुपुष्ट बलवान् मनुष्य का सामने आदर्श रखो। पुनः-पुनः उसका दर्शन करो इसी प्रकार हरे भरे पौधों को और जीवनमय कान्तिवाले प्राणियों को क्रीड़ा तथा आमोद प्रमोद करते देखो। जीवनमय उद्यान, उपवन, जङ्गल और पर्वतों का सेवन करो तुम्हारी जीवन शक्ति ऐसा करने से दिनों दिन बढ़ती जावेगी तुम्हारे अन्दर यह विचार अब बढ़ते रहने चाहिएं कि 'मैं स्वस्थ हो रहा हूं' पुनः शीघ्र ही तुम स्वस्थ हो जाओगे।

मृत्यु से उभरने का आदेश—

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि

शतशारदाय । अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं
द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥

(अथर्व० ८ । २ । २)

अर्थ—(जीवतां ज्योतिः-अभ्येहि) हे प्यारे ! तू जीनेवालों की ज्योति को प्राप्त हो (त्वा शतशारदाय-अर्वाङ आहरामि) तुझे सौ वर्ष तक जीवित रखने के लिए इधर इसी लोक में ले आता हूं (मृत्युपाशान्-अशस्तिम्-अवमुञ्चन्) मृत्यु के पाशों को तथा मन की अशस्त भावना को छुड़ाता हुआ (ते प्रतरं द्राघीयः-आयुः-दधामि) तेरे लिए उत्कृष्ट दीर्घ आयु को धारण करता हूं ।

इस मन्त्र में रोगी को रोग से विमुक्ति और जीवित रहने का आदेश दिया है कि "हे प्यारे रोगी ! तू जीने वालों की ज्योति को प्राप्त कर—जीने वालों की भांति जीवन कान्ति और उत्साह को धारण कर । मैं चिकित्सक तुझे पूर्ण आयु तक जीवित रहने के लिए अपने अधिकार में ले आया। प्यारे पात्र! चिन्ता या भय की कोई बात नहीं, मैं समस्त रोगों और तुम्हारे अन्दर की निराशा आदि भावनाओं को दूर करता हूं तुम्हारे अन्दर दीर्घ जीवन की शक्ति डालता हूं । निश्चय रखो अब तुम दिनों दिन दीर्घ जीवन की ओर चलोगे ।"

तथा—

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः ।
उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि ॥
उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥
(अथर्व० ८ । १ । ३, ६)

अर्थ—(इह ते-असुः) हे प्यारे रोगी ! तेरा श्वास उच्छ्वासरूप प्राण इस देह में रहे (इह प्राणः) इस देह में प्राणशक्ति रहे (इह आयुः) इस देह में पूर्ण आयु रहे (इह ते मनः) इस देह में मन रहे (त्वा) तुझे (निर्ऋत्याः पाशेभ्यः) जीवन की अरमणीयता के बन्धनों से-जीवननिराशा के भावों से "निर्ऋतिनिरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा" (निरु० २ । ७) (दैव्या वाचा-उद्भरामसि) दैवी वाणी-सत्यवाणी-प्रभावकारी आदेश से उभारते हैं–ऊपर करते हैं–छुड़ाते हैं । "सत्यमेव देवाः" (श० १ । १ । १ । ४) ॥ ३ ॥

(पुरुष) हे प्यारे रोगी मनुष्य ! (उद्यानं ते न-अवयानम्) बस अब तेरा–तेरे स्वास्थ्य का उदय उत्थान है ह्रास या पतन नहीं । (जीवातुं दक्षतातिं ते कृणोमि) तेरे लिये जीवनदेनेवाले और बल करने-बलबढ़ाने वाले उपाय को मैं कर रहा हूं (इमं-अमृतं सुखं रथम्) इस न मरने योग्य

अभी जीवित रहनेवाले सुखसाधक शरीररथ पर "शरीरं रथमेव तु" (कठोप० ३ । ३) "रथः शरीरम्" (मैत्र्युप० २ । ६) (हि-आरोह) अवश्य चढ़ा रह (अथ) पुनः (जिर्विः) वृद्ध बूढ़ा होता हुआ (विदथम्-आवदासि) अपने जीवनानुभव को घोषित कर ॥ ६ ॥

इन मन्त्रों में इस आशय का आदेश रोगी को देने का विधान है कि "हे प्यारे रोगी ! तू स्मरण रख इसी शरीर में तू स्वस्थ और प्रसन्न रहता हुआ पूर्णायु को भोगेगा मैं तुझे जीवननिराशा की ग्रन्थियों और उलझनों में से अपने सत्य आदेश द्वारा निकाल रहा हूं । तू निश्चय रख और देख अब से तेरे स्वास्थ्य का उदय ही उदय हो रहा है मैं तेरे अन्दर जीवनशक्ति को डाल रहा हूं और बल भी दे रहा हूं बस अब तू इस शरीर पर पूर्ण आधिपत्य और अधिकार रखता हुआ बुढ़ापे तक जीवन के अनुभव का लाभ प्राप्त करेगा क्योंकि तेरे शरीर में अब कोई दोष नहीं रहेगा जो तुझे हानि पहुंचा सके" ॥

वीरता के लिये आदेश—

वृषा ह्यसि राधसे जज्ञिषे वृष्णि ते शवः ।

स्वक्षत्रं ते धृषन्मनः सत्राहमिन्द्र पौंस्यम् ॥

(ऋ० ५ । ३५ । ४)

अर्थ—(इन्द्र वृषा हि-असि) ओ वीर ! या हे राजन् ! तू सचमुच साण्ड है—साण्ड के समान गर्जने वाला, आक्रमणकारी और प्रतापी है (राधसे जज्ञिषे) समाज तथा राष्ट्र की समृद्धि के लिये तू जन्मा है (ते शवः-वृष्णि) तेरा निज बल तथा सैन्यबल वर्षाप्रपात के समान शत्रु पर प्रपतन-शील है (ते मनः) तेरा मन (स्वक्षत्रं धृषत्) स्वकीय क्षात्र-बल का अभिमानी और धर्षणशील है (पौंस्यं सत्राहम्) और तेरा पौरुष साहस शत्रुओं का हननकर्ता है।

समाज या राष्ट्र के रणक्षेत्र में आनेवाले वीर या राजा को मन्त्रानुसार आदेश देना चाहिए कि "हे वीर पुरुष ! या राजन्। तू अपने को सबल समझ साण्ड जैसा बलवान् प्रभावशाली समझ, वास्तव में तू महाबलवान् है बड़ा प्रतापी और शूरवीर है तू समाज तथा राष्ट्र की समृद्धि और अभ्युदय के लिए जन्मा है तेरी शूरवीरता जाति और देश के उठाने के लिए है, तू शत्रु पर सबल और सफल आक्रमणकारी है शत्रु पर तेरे बल का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता, निज क्षात्र-बल और क्षात्रधर्म का अभिमानी है देश तथा राष्ट्र के हित तेरा सर्वस्व है, तेरे अन्दर शत्रु-हनन का साहस है शत्रु पर विजय पाने का साहस है निश्चय तू सदा जिष्णु-जयशील है किसी भी रणक्षेत्र में विजय पाना तेरे लिए अवश्यम्भावी है" इत्यादि।

सर्पदष्टविषनाशन के लिये आदेश—

साँप के काट लेने पर विष नष्ट करने के आदेश को मन्त्र कहा जाता है और मन्त्र नाम है गुप्त रहस्यमय विचार का। सर्वसाधारण जिस सिद्धान्त को न समझ सके वही मन्त्र या मन्त्रविद्या है, वास्तव में वह एक आश्वासन है। जिसको सर्प ने काट लिया उस व्यक्ति को आश्वासन देना ही मन्त्र है और आश्वासन का सफल ढंग ही आश्वासनविद्या या मन्त्रविद्या है। "चरक" ग्रन्थ में भी ऐसी स्थिति में आश्वासन देना बतलाया है।

दुरन्धकारे दष्टस्य केनचिद् विषशङ्कया।
विषोद्वेगाद् ज्वरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽथ वा भवेत् ॥
ग्लानिर्मोहोऽतिसारो वाप्येतच्छङ्काविषं मतम्।
चिकित्सितमिदं तस्य कुर्यादाश्वासनं बुधः ॥

(चरक। विषचिकित्सा। अ० २३। २१८-२१९)

घने अन्धकार में किसी जन्तु के काट लेने पर सर्प के काटने की शङ्का हो जाने से उस व्यक्ति को ज्वर, वमन, मूर्च्छा, दाह, ग्लानि, मोह, दस्त ये सर्पदष्ट के उपद्रव हो जाते हैं*। इसकी चिकित्सा आश्वासन है। ऐसे रोगी को बुद्धिमान्-जन विविध आश्वासन दें, यह चरककार का कथन है। परन्तु

* यह शङ्काविष कहलाता है।

वेद इससे भी आगे बढ़ा हुआ है, वेद तो सर्प के काटे से भी मरना नहीं मानता, वेद कहता है कि "भियसा नेशत्" (अथर्व० ५ । १३ । २) सांप का काटा भय से मरता है । वेद का यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इसमें कारण भी है क्योंकि प्रथम-सर्पविष की मीमांसा करने से सभी सर्पाचार्यों का कथन है कि प्रतिशत पचास सर्प तो विना विष के हैं उनके काटने से मरने का कोई प्रसङ्ग नहीं यदि मरता है तो भय से मरता है । सर्प के नाम से ही लोग भय खाते हैं । पचास विष वालों में भी पचीस अल्पविष के हैं उनके काटने से भी मनुष्य नहीं मर सकता यदि मरते हैं तो भय से । शेष पचीस में भी महाविष के सर्प आधे हैं (साढे बारह) और फिर इनमें बच्चे, अतिवृद्ध, रोगी, कृश, केंचुली छोडते हुए, डरे हुए, नेवले से पछाडे हुए, जल के ताड़े हुए का अल्पविष होता है[1]। अब तो और भी कम महाविष के सर्प रह गए जो साढ़े बारह में अधिक से अधिक छः हुए । फिर इनके भी दष्ट (डंक–घाव) तीन प्रकार के होते हैं "सर्पित (सर्पदष्ट विष के पूर्ण लक्षणों वाला) रदित (सर्पदष्ट विष के अल्प लक्षणों वाला)

---

१ "तथातिवृद्धबालाभिदष्टमल्पविषं स्मृतम् ।
नकुलाकुलिता बाला वारिविप्रहताः कृशाः ॥
वृद्धा मुक्तत्वचो भीताः सर्पास्त्वल्पविषाः ॥
(सुश्रुत) कल्प० । ४ । १९, २२)

सर्पाङ्गाभिहृत (सर्प के अङ्गों से स्पर्श हुआ या घिसा हुआ मात्र)" ये तीन होते हैं, तब तो महाविष सर्पों के काटे के महाविषस्थान छः में दो ही रहे इस विचार से तो सर्पों के काटे हुए सौ में दो ही अधिक से अधिक मरने चाहिएं परन्तु इनका भी तुरन्त बन्धन आदि उपचार हो जावे तो ये भी नहीं मर सकते यदि मरते हैं तो भय से ही मरते हैं और वेद में तो इन दो को भी चाहे बन्धन न भी बान्धा हो, "भियसा नेशत्" भय से ही मरते हैं ऐसा कहा है । जब यह बात है तब आश्वासन चिकित्सा करना अत्यावश्यक है और रोगी मरने से बच जाता है । आश्वासन तो डूबते हुए तक को भी बचा लेता है ऐसा संसार में देखने में आता है किसी डूबते हुए को किसी कुशल अच्छे तैरने वाले की ओर से जब आश्वासन मिलता है कि "मैं आगया हूं तुझे डूबने न दूंगा घबरा नहीं सम्भल, मैं कदापि न डूबने दूंगा—" तब इस डूबने वाले के अन्दर एक बिजली सी दौड़ कर उसमें हाथ, पांव मारने की शक्ति आ जाती है और वह डूबने से बच जाता है । अतएव वेद सर्पदष्टविष वाले मनुष्य को मरने से बचने का आदेश देने का विधान करता है ।

दर्दिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रै-
र्निरिणामि ते विषम् । खातमखातं सक्तम-
ग्रभमिरेव धन्वन्निजजास ते विषम् ॥
(अथव० ५ । १३ । १)

अर्थ—(वरुणो दिवः कविः) वरनेवाले जगत् के धारक वेद वाणी के कवि परमात्मा ने (मह्यम्)[१] मेरे में (ददिः-हि) निश्चय ऐसा भारी तेज दिया है कि (उग्रैर्वचोभिः) उग्र वचनों से (ते विषम्) तेरे विष को (निरिणामि) मैं निकालता हूं—दूर करता हूं—शक्तिहीन करता हूं। तथा (खातम्) सर्पदान्तों के गहरे घाव को[२] (अखातम्) गहरे नहीं किन्तु सर्पदान्तों के चिह्नरूप को[३] (उत) तथा (सक्तम्) सर्प से सम्पृक्त–स्पर्श प्रभावमात्र को[४] (अग्रभम्) मुझ सर्पविष-चिकित्सक ने स्ववश कर लिया है, अब (ते विषम्) तेरा विष (इरा-इव धन्वन्) मरुस्थली-रेतीले स्थान में पड़े जल की भांति (निजजास) विनष्ट हो जाता है।

इस मन्त्र में तीन बातों का वर्णन है जिसमें एक तो सर्पदष्ट (घावों) के तीन भेद खात (गहरा) अखात (कम घाव) सक्त (स्पर्शमात्र) दूसरे आश्वासनचिकित्सा में अपना आदर्श विषनाशक शक्ति देने वाला तेजस्वी परमात्मा तीसरे मुख्य बात "वचोभिरुग्रैर्निरिणामि ते विषम्"

---

१ "वागिति द्यौः" (जै० उ० ४ । १२ । ११)

२ सर्पित को।

३ रदित को।

४ सर्पाङ्गाभिहत को।

उग्र प्रभाव पूर्ण वचनों से तेरे विष को निर्बल करता हूं। और "इरेव धन्वन् निजजास ते विषम्" वह विष मरुस्थली में गिरे जल के समान निकम्मा हो गया। अर्थात् मैंने परमात्मा से बहुत तेज प्राप्त किया हुआ है मेरे सामने तेरे सर्प काटे का गहरा विष भी कुछ नहीं मैंने इसे स्वाधीन कर लिया, है और अपने प्रभावशाली वचनों से तेरा विष निर्बल कर रहा हूं दूर कर रहा हूं नष्ट कर रहा हूं, वह निर्बल हो रहा है नष्ट हो रहा अवश्य नष्ट हो रहा है, अब निर्बल हो गया दूर हो गया सर्वथा निर्बल हो गया, सर्वथा दूर हो गया और सर्वथा नष्ट हो गया, अब नहीं रहा–नहीं रहा, मरुभूमि में गिरे जल की भांति नष्ट हो गया–सर्वथा नष्ट हो गया, बस तुम अच्छे हो स्वस्थ हो इत्यादि आदेश दे।

इसके अतिरिक्त बन्धन बांधते हुए भी आदेश देना चाहिए कि "देखो मैंने तुम्हारे निकृष्ट, मध्य, और गहरे विष को बांध दिया है—यह बस आगे नहीं जावेगा तुम निश्चिन्त रहो तुम नहीं मरोगे और सर्प के काटे से नहीं मरोगे मरने का काम नहीं, भय मत करो, मनुष्य सर्प के काटे से कभी नहीं मरता, भय करने से ही मरता है बस भय मत करो, तुम वीर हो भय तुम्हारे पास नहीं फटना चाहिए तुम साहस रखो अपने मन को दृढ़ रखो–कभी भी नहीं मर सकते, भाई मन अन्दर की बिजली है इससे विषप्रभाव नष्ट हो जावेगा।"

ऐसे आदेश देते हुए अपने हाथों या वस्त्र या रोम-कुञ्ची से ऊपर से नीचे को अभिमर्श (किंचित् स्पर्श) करते रहो।

सर्प काटे को देर होजाने पर औषध उपचार करते हुए भी ठण्डे अभिमर्श (स्पर्श) करते और आदेश देते रहो। आदेश-चिकित्सक गम्भीर, सत्यवादी, संयमी, हितदृष्टिमान् होगा तो प्रभाव अधिक पड़ेगा। 'सुश्रुत' में भी मन्त्र-चिकित्सकों को संयमी रहने को कहा है। अस्तु ॥

पञ्चम पटल

मणि बन्धन

मणिबन्धन का विषय अथर्ववेद में आता है। कण्ठ,मस्तक, शिर, नाभि और हाथ आदि अङ्गों में मणियां बांधी जाती हैं। लोग अथर्ववेद के मणिबन्धन से आधुनिक प्रचलित तावीज, नक्श, गण्डा, डोरा, धागा आदि बातों को भी सिद्ध करते हैं किन्तु इन बातों के लिये प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में भी स्थान नहीं है फिर वेद में तो कथा ही क्या। हां मनोवैज्ञानिक और आयुर्वैदिक शास्त्र से अनुमोदित या सम्बन्धित मणिबन्धन का वेद में वर्णन होना अत्यावश्यक और निर्दोष है। मणियां चार प्रकार की होती हैं। खनिज, सामुद्रिक, प्राणिज और वानस्पत्य "खनिः स्रोतः प्रकीर्णकं च योनयः" (कौटिल्यार्थ शास्त्र प्रकरण ३६) हीरा पन्ना आदि स्फटिक या पाषाणिक सोना चांदी आदि धातुरूप खनिज मणि हैं। मोती मूंगा आदि

सामुद्रिक मणि हैं। हाथी के दान्त और उसके मस्तक का मोती (गजमुक्ता) बाघ के नख, कस्तूरिया मृग की नाभि, बारहसींगे के सींग, सर्प की मणि, मेण्डक का जहर मोहरा आदि जङ्गमज या प्राणिज मणि हैं और वनस्पतियों के मूल कन्द फल आदि पृथक् पृथक् तथा उनकी रसक्रिया गुटिका और अनेकों वनस्पतियों का बना एक योग गोलीरूप में वानस्पत्य या ओषधिज मणि हैं। स्वयं वेद ने कहा है "मणिर्वीरुधां जाय-माणो०" (अथर्व० ८ । ७ । १४)। इन मणियों के धारण से तीन प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

१—भूषा-अलङ्कार।

२—मन में प्रसन्नता, शान्ति और वीरता आदि का प्रभाव आना।

३—रोगों का दूरीकरण तथा अनाक्रमण विशेषतः विष का प्रतिकार और अनाक्रमण होना।

उपर्युक्त बातों के सम्बन्ध में प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण देकर स्पष्ट करते हैं—

मुक्ताविद्रुमवज्रेन्द्रवैडूर्यस्फटिकादयः।
चक्षुष्या मणयः शीता लेखना विषसूदनाः।
पवित्रा धारणीयाश्च पाप्मालक्ष्मीमलापहाः॥
(सुश्रुत सूत्रस्थान—अ० ४६ सुवर्णादि वर्ग १८)

इस वचन में बताया है कि मोती, मूंगा, हीरा, वैदूर्य (लहसुनिया) स्फटिक आदि मणियां धारण करनी

चाहिएं क्योंकि ये नेत्रशक्तिवर्धक, शीतल, दोष-विलेखन करने वाली, मन में पवित्रता लाने, अशोभा को हटाने शोभा को बढ़ाने और विष को दूर करने वाली हैं।

उक्त वचन में सामुद्रिक और खनिज मणियों के गुण और उन्हें धारण करने का वर्णन है। यहां एक बात विशेष यह कही है कि मणियां विषनाशक हैं इन मणियों में सुश्रुत ने आयुर्वैदिक दृष्टि से गुणों का वर्णन करते हुए धारण करना बतलाया है, किसी मनघड़न्त गण्डा तावीज आदि अलौकिक जादू की बात नहीं कही, तथा चरक में भी देखिए—

वज्रं मरकतं सारं पिचुकी विषमूषिका।
कर्कोटकमणिः सर्पाद्‌ वैदूर्यंगजमौक्तिकम् ॥
धार्यं गरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहाः।

(चरक। विषचिकित्सा० अ० २३। २४८, २४९)

इस चरकवचन में हीरा, मरकत, पन्ना, सार (चन्दनादि१) पिचुकी (इतर गन्धबत्ती २) विषमूषिका

---

१ "कोषाध्यक्षः कोषप्रवेश्यं रत्नं सारं फल्गु कुप्यं वा तज्जातकरणाधिष्ठितः प्रतिगृह्णीयात्" (कौटिल्यार्थ शास्त्र। अधि० २। प्रकरण २९)

"चन्दनम्, अगरु, तैलपर्णिकम्, भद्रश्रीयम्, कालेयकः। इति साराः"

(कौटिल्यार्थ शास्त्र। प्रकरण २९)

२ 'पिचुकम्' रुई के फाए का नाम है एवं 'पिचुकी' रुई की बत्ती है

(विषमणि विषमुष्टिका-कुचला या द्रवन्ती) कर्कोटक मणि सर्प से, वैदूर्य (लहसुनिया), गजमुक्ता, गरमणि और जो उत्तम विषहर ओषधियां हैं धारण करनी चाहिएं ॥

इस वचन में प्राणिज खनिज मणियों तथा सार (चन्दन आदि) और "वरौषध्यो विषापहा:" उत्तम विष-नाशक ओषधियों को धारण करने के कथन से वानस्पत्य मणियों का भी उल्लेख हो जाता है। ओषधिमणियों के सम्बन्ध में कौटिल्यार्थ शास्त्र के निम्न वचन देखिए—

जीवन्तीश्वेतामुष्ककपुष्पवन्दाकानामक्षीवे

जातस्य अश्वत्थस्य मणिः सर्वविषहरः ॥

(कौटिल्यार्थशास्त्र अधि० १४। प्रकरण० १७९)

जीवन्ती, श्वेता (अपराजिता या अतीस) मोखा, नागकेसर, बन्दा तथा सोंजने या महानिम्ब के ऊपर हुआ पीपल, इन सब की बनाई मणि सब विषों को हरने वाली है ॥

इस वचन में कई ओषधियों के योग की मणि का वर्णन है।'सुश्रुत' के कल्पस्थान में 'मूषिका (आखुकर्णी द्रवन्ती)

मणिबन्धनप्रकरण में 'पिचुक' अर्थात् इतर सुगन्धवाला रुई का फ़ाया धारण करना अष्टाङ्गहृदय ग्रन्थ में भी बताया है "वैदूर्यगर्दभमणिं पिचुकं विषमूषिकाम्
(अष्टाङ्गहृदय)

और अजरुहा (अजशृंगी) ओषधियों को हाथ में बांधने से विषयुक्त अन्न का विष निर्बल हो जाना बतलाया है—

मूषिकाऽजरुहा वापि हस्ते बद्धा तु भूपतेः।
करोति निर्विषं सर्वमन्नं विषसमायुतम्॥
(सु० कल्प० अ० १ । ७७)

उपर्युक्त 'चरक' 'सुश्रुत' और 'कौटिल्यार्थ शास्त्र' के प्रमाणों से यह स्पष्ट हुआ कि खनिज, सामुद्रिक, प्राणिज और वानस्पत्य चार प्रकार की मणियां होती हैं जो कि विष हरणादि के लिये धारण की जाती हैं। इसके साथ यह भी सिद्ध हुआ कि इन चार से भिन्न और कोई वस्तु मणि नहीं है और न मणि की भांति धारण करने योग्य है फिर यन्त्र, नक्श, गण्डा, तावीज धारण करना अनार्ष और अप्रामाणिक है अतः वेद में उनका स्थान नहीं हो सकता। वेद की मणियां भी निश्चित उक्त खनिज सामुद्रिक, प्राणिज और वानस्पत्य ही हैं मिथ्या-कल्पित नक्श गण्डा तावीज नहीं। सामुद्रिक आदि मणियों के धारण करने के तीन प्रयोजनों का कुछ विवरण निम्न प्रकार करते हैं।

१—अशोभा को दूर करने शोभा और भूषा को बढ़ाने के लिये हीरा पन्ना नीलम आदि खनिज, मोती आदि सामुद्रिक तथा प्राणिज और वानस्पत्य मणियां गले कान सिर हाथ कङ्कण अंगुलि आदि में धारण की जाती हैं। अतएव

मणियों को 'अलक्ष्मीघ्न' कहा है। इस प्रयोजन के लिये केवल मनुष्यों में ही नहीं किन्तु गौ आदि पशुओं तक के गले आदि में भी धारण कराते हैं। हां बहुमूल्य खनिज मणियां तो राजे महाराजे अपने हाथी घोड़ों को भी धारण कराते हैं परन्तु साधारण जन अल्पमूल्य सामुद्रिक शङ्ख सीपी कोड़ी आदि मणियां ही अपने पशुओं को धारण कराते हैं। न केवल इतना ही किन्तु मेज चौकी घर की भित्ति आदि को भी शङ्ख कोडी सामुद्रिक, बारहसिंहे के सींग आदि प्राणिज मणियों से सजाते हैं।

२—मन में प्रसन्नता वीरता आदि के भावों को जागृत तथा विकसित करने के लिये भी स्फटिक आदि खनिज महाशङ्ख आदि सामुद्रिक, हाथी दान्त बाघनख आदि प्राणिज मणियों को धारण करते हैं अत एव मणियों को ओज और तेज बढ़ाने वाली कहा है।

३—विष के अनाक्रमण तथा विषदूरीकरण के लिये हीरा पन्ना आदि खनिज, मोती मूंगा आदि सामुद्रिक, गजमुक्ता, जहरमोहरा, कस्तूरीनाभि आदि प्राणिज, चन्दन कपूर आदि पृथक् पृथक् तथा योग से निष्पन्न वानस्पत्य मणियों को धारण करते हैं। विषदूरीकरण के अतिरिक्त अन्य रोगों में भी इनका उपयोग करते हैं। महामारी (प्लेग) में कपूर चन्दन, श्लैष्मिक रोग (इन्फ्लूएञ्जा) में जायफल आदि वानस्पत्य मणियों के धारण करने का प्रभाव अच्छा देखा जाता है।

उपर्युक्त खनिज, सामुद्रिक, प्राणिज और वानस्पत्य मणियों का ही अथर्ववेद में उक्त तीनों प्रयोजनों के लिये धारण करने का विधान है यह वेद का विधान जादू टोना या गण्डा तावीज नहीं है किन्तु आयुर्वैदिक या वैज्ञानिक सिद्धान्त का विषय है अब हम उक्त मणियों का जो अथर्ववेद के मन्त्रों में विधान है उनका यहां विचार करेंगे।

खनिजमणि में आञ्जनमणि—

अथर्ववेद काण्ड ४ सूक्त ६ में "आञ्जन' मणि का वर्णन है, कौटिल्यार्थ शास्त्र के मणि प्रकरण में "अञ्जनमूलक" नाम से खनिज मणि कहा है "विमलकः सस्यकोऽञ्जनमूलकः" (कौटिल्य० प्रकरण २६) अर्थ दोनों 'अञ्जनमूलक' और 'आञ्जन' का एक ही है 'अञ्जनमूलक' अञ्जन जिसका मूल है और 'आञ्जन' अञ्जन का बना हुआ, इस प्रकार आशय एक ही है। अञ्जन नाम की खनिज वस्तु है जिसे सुरमा भी कहते हैं इस अञ्जन या सुरमे की बनी मणि-गोली या टिकिया आञ्जनमणि है। अथर्ववेद में उस 'आञ्जन' अञ्जन अर्थात् सुरमे की मणि अर्थात् गोली या टिकिया के पास रखने का नेत्र आदि रोगों के दूर करने के लिये विधान है। यहां इस 'आञ्जन' अञ्जन-मणि या सुरमे की गोली या टिकिया को बांधने के लिये नहीं कहा है क्योंकि मंत्र ५ में स्पष्ट "यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन" से यह बात स्पष्ट हो रही है क्योंकि उसे "बध्नाति" शब्द से नहीं

कहा किन्तु "बिभर्ति" धारण करता है-पास रखता है ऐसा कहा है, इससे तो यही सिद्ध होता है कि सुरमे की गोली या टिकिया पास रखनी चाहिये आवश्यकता के समय काम आने वाली वस्तु है, उस सुरमे की गोली या टिकिया को समय पर पानी में डुबा कर या घिस कर आंख में उसका जल टपकाना, नाक में डालना, मुख द्वारा पान करना, सर्प आदि के काटे स्थान पर उसे घिस कर लगाना आदि उपयोग लेना चाहिए ऐसा सूक्त का तात्पर्य है। अस्तु। अब मन्त्रार्थ भी देखिये—

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्षम् ।
विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥

अर्थ—(जीवं त्रायमाणम्-एहि) हे आञ्जन[1] ! तू जीव को रोग से बचाने के हेतु प्राप्त हो (जीवनाय परिधिः कम्) निश्चय तू जीवन की परिधि प्राकार परकोटा है (विश्वेभिः-देवैः) समस्त देवों के द्वारा (दत्तम्) दिया हुआ—सम्पन्न किया हुआ (पर्वतस्य-अक्षम्-असि) पर्वत का नेत्र है ॥ १ ॥

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि ।
अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥

---

१ यातुजम्भनमाञ्जन (मन्त्र ३)

अर्थ—(पुरुषाणां परिपाणम्) हे अञ्जन ! तू पुरुषों को स्वास्थ्य देकर रक्षा करने वाला है (गवां परिपाणम्-असि) गौवों को स्वास्थ्य देकर रक्षा करने वाला है (अश्वानाम्-अर्वताम्) आशुगामी घोड़ों के (परिपाणाय) स्वास्थ्यरक्षण के लिये (तस्थिषे) स्थित है ॥ २ ॥

उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीव-
भोजनमथो हरितभेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(आञ्जन) हे आञ्जन ! अञ्जन से सम्पन्न विशुद्ध मणि-गोली-टिकिया रूप औषध ! तू (उत) सम्भवनीय-अवश्यम्भावी (परिपाणम्-असि) स्वास्थ्य की रक्षा करने वाला है (यातुजम्भनम्) यातना—पीड़ा का नाश करने वाला है (उत) अपितु (त्वम्) तू (अमृतस्य वेत्थ) अमृत—उत्तम स्वास्थ्य का 'वेदयथ' अनुभव कराता है या अमृत अर्थात् विषनाशक गुण को अपने अन्दर विद्यमान रखता है (अथ) तथा (जीव-भोजनम्-असि) जीवों को संसार में सुखभोग कराने वाला क्षय हटाकर जीवन भुगाने वाला औषध है (अथ-उ) और भी (हरितभेषजम्) हरित रोग कामला पाण्डु का औषध है ॥ ३ ॥

इस मन्त्र में आञ्जन को विषनाशक, जीवनसमृद्धि देने वाला, कामला पाण्डु का नाशक कहा है ॥ ३ ॥

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं विबाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥

अर्थ—(आञ्जन) हे अञ्जन से निष्पन्न गोली या टिकियारूप औषध ! तू (यस्य) जिस मनुष्य के (अङ्गमङ्गम्) अङ्ग अङ्ग में (परुष्परुः) जोड़ जोड़ में (प्रसर्पसि) पान द्वारा पहुंच जाती है—फैल जाती है (ततः) उस मनुष्य से (उग्रो मध्यमशीः- इव) उग्र विद्युत् की भांति अर्थात् जैसे अन्तरिक्षस्थानी उग्र विद्युत् मेघ को ताडित करती है ऐसे (यक्ष्मं विबाधसे) आन्तरिक रोग को अङ्गों-जोड़ों में घुसे रोग को ताडित करती है ॥ ४ ॥

इस मन्त्र में आञ्जन को अङ्ग अङ्ग में और जोड़ जोड़ में 'प्रसर्पसि' पहुंचने का वर्णन होने से सिद्ध होता है कि आञ्जन गोली या टिकिया घिस कर पान करना यहां अभीष्ट है। विना पान किए किसी अङ्ग में बांध लेने से सब अङ्गों और जोड़ों में पहुंचने फैलने की बात नहीं बन पड़ती।

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् ।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥ ५ ॥

अर्थ—(आञ्जन) हे अञ्जन की टिकिया (यः) जो मनुष्य (त्वा) तुझे (बिभर्ति) धारण करता है—अपने

पास रखता है (एनम्) इस उस मनुष्य को (शपथो न प्राप्नोति) निन्दावचन नहीं प्राप्त होता है-मन पर प्रभाव नहीं डालता है या छूत का रोग नहीं प्राप्त होता है (न कृत्या) विषयुक्त घातक क्रिया भी[१] प्राप्त नहीं होती प्रभाव नहीं डालती (न-अभिशोचनम्) उदासीनता निराशा भी प्राप्त नहीं होती सदा उत्साह रहने से (विष्कन्धम्-एनं-न अश्नुते) आलस्य प्रमाद जड़ता शैथिल्य भी उसे प्राप्त नहीं होता है ॥ ५ ॥

इस मन्त्र में अञ्जन टिकिया के सेवन से आलस्य, शैथिल्य, छूत रोग, विष की घातक क्रिया के प्रतिकार का वर्णन है, आञ्जन सेवन से प्रसन्नता और उत्साह बढ़ता है और यह विषप्रभाव को नष्ट करता है, ऐसा आयुर्वेदशास्त्र का मत है।

असन्मन्त्राद् दुष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत ।
दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥

अर्थ—(आञ्जन) हे आञ्जन ! तू (असन्मन्त्रात्) अयुक्त विचार से (दुष्वप्न्यात्) बुरे स्वप्न के कारण से वात-प्रकोप तथा मस्तिष्क की शुष्कता से (उत) तथा (दुष्कृतात्-शमलात्) पापमल से (दुर्हार्दः) हृदयरोग से (तस्मात्

१ कृत्या के सम्बन्ध में देखो, इस पुस्तक में आगे 'कृत्या-अभिचार' प्रकरण को ।

चक्षुषो घोरात्) उस प्रसिद्ध आंखों के घोर रोग से (नः) हमें (पाहि) बचा ॥ ६ ॥

अञ्जनसेवन से मन विकसित होता है उससे असम्यक् विचार, अनिद्रा वासना नष्ट होती है और हृदयरोग, नेत्ररोग भी नहीं सताता ।

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् ।
सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥ ७ ॥

अर्थ—(आञ्जन) हे आञ्जन ! (अहं विद्वान्) मैं जानता हुआ (इदं सत्यं वक्ष्यामि) यह सत्य कहता हूं (न-अनृतम्) झूठ नहीं कहता कि (तव पुरुष) यह मैं तेरा पुरुष "सुपां सुलुक्०" (अष्टा० ७ । ३ । ३९ –इति सुलुक्) तेरा सेवन करने वाला (अश्वम्) घोड़े को (गाम्) गौ को (आत्मानम्) अपने शरीर को (सनेयम्) तेरे उपयोग से सुखयुक्त करता हूं ॥ ७ ॥

आञ्जन का उपयोग गौओं घोड़ों के लिए भी उपयोगी है ।

त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः ।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता ॥ ८ ॥

अर्थ—(आञ्जनस्य) तुझ आञ्जन के (तक्मा) कष्टदायक ज्वर रोग (बलासः) बलनाशक-कफ रोग (आत्)

तथा (अहिः) सर्प-सर्पविष (त्रयः) ये तीनों (दासाः) दास हैं-तेरे द्वारा नष्ट होने वाले हैं (पर्वतानाम्) पर्वतों में (वार्षिष्ठः-त्रिककुत्) समृद्ध ऊँचा तीन शिखरों वाला पर्वत (नाम) वास्तव में (ते पिता) तेरा जनक है ।

अञ्जन के प्रयोग से भयङ्कर ज्वर, कफरोग, सर्पविष दूर हो जाता है वह अञ्जन तीन शिखरों वाले पर्वत से लेना चाहिये । आयुर्वैदिक निघण्टु में अञ्जन को विषनाशक कहा है । वेद के कथन से प्रतीत होता है आञ्जन सर्पविष के लिए विशेष उपयोगी है ।

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि ।
यातूंश्च सर्वान् जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ६ ॥

अर्थ—(हिमवतः-परि) हिमालय श्रेणि में (त्रैककुदं जातम्) तीन शिखरों वाले पर्वतभाग से निकला हुआ (यत्) जो (आञ्जनम्) आञ्जन-अञ्जनभेषज है वह (सर्वान् यातून् च) समस्त यातना देने वाले नर कृमियों को (सर्वांश्च यातुधान्यः) और सब यातना देने वाली स्त्री कृमियों को (जम्भयत्) नष्ट कर देता है ।

जो छोटे छोटे कृमि आंख कान नाक मुख में घुस कर यातना देते हैं उनको तथा उनके दूषित प्रभाव को अञ्जन-प्रयोग नष्ट कर देता है ।

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे ।
उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन ॥ १० ॥

अर्थ—(आञ्जन) हे आञ्जन ! तू (यदि वा) चाहे (त्रैककुदम्-असि) तीन शिखरों वाले पर्वत से उत्पन्न होने के कारण- त्रैककुद नाम का लोक में सौवीराञ्जन है (यदि) चाहे (यामुनम्-उच्यसे) मिलती हुई चलने वाली नदी से उत्पन्न होने के कारण 'यामुन' लोक में स्रोतोञ्जन कहा जाता है (ते उभे नाम्नी) तेरे दोनों गुणानुसार नाम (भद्रे) सुन्दर हैं–यथार्थ हैं (ताभ्यां नः पाहि) उनके द्वारा हमारी रोगों से रक्षा कर ।

यहां मन्त्र में आञ्जन के दो नाम उत्पत्तिभेद से बताएं हैं एक पर्वत दूसरा नदी इसके उत्पत्तिस्थान हैं इन्हीं दोनों से इसे त्रैककुद और यामुन कहा है ॥

इस सूक्त में अञ्जन अर्थात् सुरमे को शुद्ध उपयुक्त करके गोली या टिकिया बनाकर या चूर्ण के रूप में पास रखने का वर्णन है । सूक्त में अञ्जन के 'त्रैककुद' और 'यामुन' ये दो यौगिक नाम दिये हैं किसी रूढ पर्वत या नदी से इसका सम्बन्ध नहीं किन्तु 'त्रैककुद' से भूमितल पर तीन प्रक्रम से उठे हुए पर्वत त्रिककुद् और यामुन से दूसरी नदियों

को मिलाती हुई उनसे मिलती हुई नदी 'यमुना' अभीष्ट है[१] एवं पर्वत और नदी से उद्भव होने से उसके ये नाम हैं आयुर्वैदिक निघण्टु में इन्हें 'सौवीराञ्जन' और 'स्रोतोञ्जन' नाम दिये हैं तथा उन्हें 'पार्वतेय' और 'नादेय भी कहा है—

अञ्जनं यामुनं चापि कापोताञ्जनमित्यपि ।
तत्तु स्रोतोञ्जनं नदीजं च वाल्मीकं च जयामलम् ॥
(भाव प्रकाश नि०)

स्रोतोञ्जनं नदीजं च वाल्मीकं च जयामलम् ।
सौवीरकं पार्वतेयं मेचकं नीलमञ्जनम् ॥
(शालिग्राम निघण्टु०)

---

१ रामायण में सामान्य नदी के अर्थ में 'यमुना' शब्द आया भी है वहां कहा है कि गई रात नहीं लोटती जैसे ही जल भरे समुद्र को गई यमुना भी नही लौटती ।

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते ।
यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकाकुलम् ॥
(वाल्मीकि रामा० । अयो० । १०५ । १९)

यहां गई रात के न लौटने की समता में 'यमुना' शब्द का रखना तथा उसके जलपूर्ण समुद्र तक पहुँचने के कथन से 'यमुना' सामान्य नदी अर्थ में स्पष्ट सिद्ध होता है ।

वेद ने इस उपर्युक्त सूक्त में अञ्जन को यातुजम्भन, हरितभेषज (कामला हलीमक पाण्डुनाशक) अन्दर प्रविष्ट हुए रोग को हटाने वाला, कृत्या (विषक्रिया) का निवारक, ढीलेपन का नाशक, दुःखनाशक, नेत्ररोग निवारक तक्मा ज्वर (क्षय) का नाशक बलास—कफ रोग का विध्वंसक और सर्पविष को दूर करने वाला बतलाया है। आयुर्वैदिक निघण्टु में आञ्जन के गुण उक्त दिये हैं—

स्रोतोऽञ्जनं स्मृतं स्वादु चक्षुष्यं कफपित्तनुत् ।
कषायं लेखनं स्निग्धं ग्राहिच्छर्दिविषापहम् ॥

(भाव प्र० नि०)

सिध्मक्षयास्रहृत् शीतं सेवनीयं सदा बुधैः ॥
सौवीराञ्जनं प्रोक्तमत्यन्तं शिशिरं बुधैः ।
विषहिध्माविकारघ्नमक्षिरोगविषापहम् ॥

(धन्वन्तरि नि०)

इस प्रकार आयुर्वैदिक निघण्टु-शास्त्र में प्रदर्शित अञ्जन के लाभ उक्त सूक्त में 'आञ्जन' अञ्जन से बने गोली टिकिया सुरमे के आंख नाक मुख आदि द्वारा सेवन से बताना कोई मन्त्र तन्त्र गण्डा-तावीज की बात नहीं है। सूक्त में इसके बांधने का वर्णन भी नहीं। और यदि 'आञ्जन' को 'आऽअञ्जन' ऐसा माना जावे जैसा कि पदपाठ में दिया है तब तो बांधने

का प्रसङ्ग शशश्रृङ्ग जैसा ही है क्योंकि उसका अर्थ 'आ' भली भांति आञ्जा जाने वाला-लेप करने आंख में लगाने सुशोभित करने फैलने वाला पदार्थ आञ्जन हुआ। अस्तु। अब सामुद्रिक मणि के प्रसङ्ग में लिखते हैं।

सामुद्रिक मणि में 'शङ्खमणि'—

अथर्व वेद के काण्ड ४ सूक्त १० में शङ्ख मणि का वर्णन है। सूक्त में शङ्ख से तात्पर्य साधारण शङ्ख नहीं है क्योंकि वहां मन्त्रों में उसके विशेषण 'शङ्खः कृशनः' (म० १, २) 'दिवाकरः' (म० ५) दिये हैं। यास्क निघण्टु में कृशन हिरण्य नामों में पढ़ा है "कृशनं हिरण्यनाम" (निघं० १।२) यह शङ्ख सुनेहरा है। 'दिवाकर' सूर्य को कहते हैं इससे भी सुनेहरा चमकीला ही तात्पर्य है। अतएव यह मुक्ताशङ्ख है जिसमें मोती होता है। कौटिल्यार्थ शास्त्र २६ वें मणि-संग्रह प्रकरण में मोती की योनि शङ्ख को भी बतलाया है "शङ्खः शुक्तिः प्रकीर्णकं च योनयः" (कौटि० २८ प्रकरण)। तथा "आयुर्वेद प्रकाश" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी मोती की योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान शङ्ख भी बतलाया है "शुक्तिः शङ्खो गजः क्रोडः फणी मत्स्यश्च दर्दुरः। वेणुश्चाष्टौ समाख्याताः सुज्ञैर्मौक्तिक-योनयः" (आयुर्वेद प्रकाश। अ० ५। १३) यहां सीपी, शङ्ख, हाथी, सुअर, सर्प, मछली, मेण्डक, बांस, ये आठ मोती के उत्पत्ति स्थान हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यहां शङ्ख शब्द से

मोती सहित–मोती वाला शङ्ख अभीष्ट है अथवा शङ्ख शब्द में अकार मत्वर्थीय है या ताद्धित प्रत्यय का लोप है। जैसे निरुक्त में कहा गया है "ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति-गोभिः श्रीणीत मत्सरम्-इति पयसः" गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता-स्नाव च श्लेष्मा च" (निरु० २। ५) इसी सूक्त के छठे मन्त्र से यह बात पुष्ट भी होती है "रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वम्" (अथ० ४। १०। ६) रथ में लगा हुआ द्रष्टव्य या दर्शनीय है और तरकस में चमकने वाला है। शङ्ख का मोती चमकने वाला है। शङ्ख का मोती चमकता है यह आयुर्वैदिक निघण्टु में भी स्पष्ट कहा है कि "शङ्खस्याच्युतहारिणो जलनिधौ ये वंशजा कम्बुकास्तेष्वन्तः किल मौक्तिकं भवति वै तच्छुक्रतारानिभम्" (शालिग्राम नि०) शङ्ख का मोती शुक्रतारा की तरह चमकीला होता है। सूक्त में उसे मणि कहा है शङ्ख का मोती भी मणि है क्योंकि मोती को भी मणि कहते हैं यह 'आयुर्वेद प्रकाश' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में भी कहा है "वैक्रान्तः सूर्यकान्तश्च हीरकं मौक्तिकं मणिः। चन्द्रकान्तस्तथा चैव राजावर्तश्च सप्तमः। गरुडोद्गारकश्चैव ज्ञातव्या मणयो ह्यमी॥" (आयुर्वेद प्रकाश अ० ५। १२१) अतः उपर्युक्त हेतुओं से सूक्त के अन्दर शङ्ख शब्द से शङ्ख का मोती लेना अनुचित नहीं है और सूक्त में जो गुण बतलाए हैं वे गुण भी मोती के अन्दर आयुर्वैदिक निघण्टु में बतलाए हैं जिनको सूक्तव्याख्या के पश्चात् तुलना के लिये रखेंगे। अब सूक्त की व्याख्या करते हैं।

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद् विद्युतो ज्योतिषस्परि ।
स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः ॥ १ ॥

अर्थ—(वातात्) वायु से (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (विद्युतः) विद्युत् से (ज्योतिषः) सूर्यरूप ज्योति से (परि–जातः) अधिजात सम्पन्न या प्रगट हुआ। तथा (हिरण्यजाः) सुवर्ण तेज से उत्पन्न (सः) वह (कृशनः शङ्खः) हिरण्यरूप सुनेहरी शङ्खमणि–शङ्खमुक्ता शङ्ख का मोती "कृशनं हिरण्यम्" (निघं० १ । ८) (नः) हमें (अंहसः) रोग पीड़ा और दोष से (पातु) बचावे ॥ १ ॥

समुद्र के अन्दर शङ्ख में मोती केवल समुद्र के कारण ही नहीं होता किन्तु अनुकूल वृष्टि से जिसमें वायु, अन्तरिक्ष, विद्युत्, सूर्य, तथा सुवर्णादि पार्थिवतेज का सम्बन्ध भी होता है अतएव वह रोग, पीड़ा और दोषों से बचा सकता है ॥ १ ॥

यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे ।
शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्रिणो विषहामहे ॥२॥

अर्थ– (यः) जो (समुद्रात्–अधि) समुद्र के अन्दर से (रोचनानाम्) चमकीले पदार्थों में (अग्रतः) अग्र प्रथम (जज्ञिषे) उत्पन्न हुआ। उस (शङ्खेन) शङ्खमणि-

शङ्ख के मोती द्वारा (रक्षांसि) राक्षसों दृश्य घातक जन्तुओं को (अत्रिणः) रक्त मांस आदि शरीर की आन्तरिक धातुओं के खाने वाले कृमियों को (हत्वा) मारकर (विषहामहे) उनपर विजय पावें या उनके दूषित विषों को सहन कर सकें निराकृत कर सकें ॥

समुद्र के अन्दर अन्य चमकीली वस्तुओं में शङ्ख का मोती सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ या सर्व श्रेष्ठ वस्तु है। उसके द्वारा स्थूल बाहिरी तथा शरीर के भीतरी सूक्ष्म जन्तुओं के आक्रमण से बच सकते हैं ॥२॥

शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः ।
शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ- (शङ्खेन) शङ्खमणि-शङ्खमुक्ता से (अमीवाम्) रोग को (अमतिम्) भोगवासना को "अशनाया वा अमतिः" (श० ६।२।३।८) (उत) तथा (शङ्खेन) शङ्खमणि शङ्खमुक्ता से (सदान्वाः) सदा शब्द कराने वाली रुलाने वाली आन्तरिक मानसिक रोग। वेदनाओं को दूर करे "सदान्वे सदानोनुवे सदाशब्दकारिके" (निरु० ६।३०) (कृशनः शङ्खः) सुनेहरी शङ्खमणि-शङ्खमुक्ता (विश्वभेषजः) समस्त भेषजधर्म वाला (नः) हमें (अंहसः) रोग दोष से (पातु) बचावे॥

शङ्खमणि-शङ्खमुक्ता से शारीरिक मानसिक रोग तथा अतिकामवासना आदि दोष दूर होते हैं ॥ ३ ॥

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः ।
स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥४॥

अर्थ—(दिवि जातः) द्युलोक में प्रकट हुआ वृष्टि-जल में बीज भाव से प्राप्त हुआ ।'अथवा लुप्तोपमा ।' द्युलोक में प्रकट हुए सूर्य के समान (सः-समुद्रजः) यह समुद्र से उत्पन्न हुआ (हिरण्यजाः) तेजोमय तत्वों से सम्पन्न (शङ्खः-मणिः) शङ्खमणि शङ्खमुक्ता (सिन्धुतः) स्यन्दनशील लहरों वाले समुद्र या समुद्र से मिलते हुए नदमुख से (पर्याभृतः) खोज से लाया हुआ (नः) हमारे लिए (आयुष्प्रतरणः) आयु का फैलाव करने वाला हो ।

शङ्खमणि-शंङ्खमुक्ता आयु का वर्धक है सूर्य के समान कान्ति वाला है वह समुद्र में बड़े नद के मुख पर (जो समुद्र से मिलता है वहां) प्राप्त हो सकता है। ऐसा मन्त्र का आशय है ॥ ४ ॥

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः ।
सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

(समुद्रात्-जातः-मणिः) समुद्र से प्रकट हुआ शङ्ख मणि शङ्ख का मोती (वृत्रात्-जातः-दिवाकरः) मेघ से प्रकट हुए मेघ से बाहर निकले सूर्य के समान है (सः) वह (हेत्याः) विषादिजनित घातक क्रिया से (देवासुरेभ्यः)

दैविक और आसुरी उत्पातों से–आकाश और भूमि में वर्तमान पदार्थों के उपद्रवों से (अस्मान्) हमें (सर्वतः) सब ओर से (पातु) बचावे ॥

शङ्खमणि–शङ्ख का मोती आकाश के सूर्य वायु मेघ आदि पदार्थों के उत्पातकृत प्रभावों रोगों से और पृथिवी के कृमि-कीटों और भूगर्भीय उपद्रवों के किए कष्टों तथा विषकृत घातक क्रियाओं से रक्षा करता है ॥ ५ ॥

हिरण्यानामेकोसि सोमात् त्वमधि जज्ञिषे ।
रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण
आयूंषि तारिषत् ॥६॥

अर्थ–(हिरण्यानाम्-एकः-असि) हे शङ्खमणि शङ्ख-मुक्ता ! तू चमकने वाले सुनेहरी पदार्थों में एक है (त्वम्) तू (सोमात्) सोम से चन्द्रमा से--उसके प्रभाव से या सौम्य धर्म से (अधिजज्ञिषे) उत्पन्न हुआ है (त्वम्) तू (रथे) रथ में-संग्रामरथ में (दर्शतः–असि) दर्शनीय है (त्वम्) तू (इषुधौ) वाणपात्र–तरकस में (रोचनः) चमकने वाला है (नः) हमारी (आयूंषि) आयु को (प्रतारिषत्) बढ़ा "अत्र पुरुषव्यत्ययः" ॥ ६ ॥

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्वन्तः ।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय
शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

अर्थ-(देवानाम्) शङ्खमणि-मुक्ताशङ्ख देवताओं की (कृशनम्-अस्थि बभूव) सुनेहरी हड्डी है (तत्) वह (आत्मन्वत्) आत्मा वाला हो (अप्सु-अन्तः) जलों के अन्दर (चरति) विचरता है (तत्) उस शङ्खमुक्ता को (ते) तेरे (वर्चसे) तेज के लिए (आयुषे) जीवन के लिये (बलाय) बल के लिए (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिए (शतशारदाय) सैकड़ों वर्ष जीने के लिए (कार्शनः) उस सुनेहरे शङ्ख से निकला मोती (त्वा) हे पात्र ! या रोगी ! तुझे (अभिरक्षतु) रोग से बचावे ॥

जीवन, तेज, बल दीर्घायु और रोगों से बचाव के लिए शङ्खमणि-शङ्खमुक्ता को बांधने अंगूठी या अन्य भूषणों में जड़ित करा कर धारण करने का विधान मन्त्र में है ।

इस समस्त सूक्त के अन्दर शङ्खमणि-शङ्खमुक्ता शङ्ख के मोती को बांधने से मानसिक दोष, बाहरी और रक्तभक्षक आन्तरिक कृमियों के आक्रमण, शारीरिक और तीव्र मानसिक रोग, विषघातक क्रिया, अकाशीय और भूमि के उत्पातों के प्रभाव का नाशक तथा तेज बल दीर्घायु और स्वास्थ्य का देने वाला एवं रथ में जड़ा, तरकस में लगा युद्धक्षेत्र में प्रताप का बढ़ाने वाला चमकदार सुनेहरी सामुद्रिक रत्न बतलाया है । जो कौटिल्यार्थशास्त्र तथा आयुर्वैदिक ग्रन्थों के द्वारा शङ्ख का मोती है और वह बड़ा चकमदार सुनेहरी होता है यह हम प्रथम ही सप्रमाण बताला चुके हैं । अब आयुर्वैदिक ग्रन्थों में उक्त

मोती के गुण वेद के साथ तुलना करने के लिए नीचे प्रदर्शित करते हैं।

मौक्तिकं सुमधुरं सुशीतलं दृष्टिरोगशमनं विषापहम्।
राजयक्ष्मपरिकोपनाशनं क्षीणवीर्यबलपुष्टिवर्द्धनम्॥
कफपित्तक्षयध्वंसि कासश्वासाग्निमान्द्य जित्।
पुष्टिदं वृष्यमायुष्यं दाहघ्नं मौक्तिकं मतम्॥ (नि० १०)

इस प्रकार आयुर्वैदिक शास्त्र के अनुसार उपर्युक्त लाभों के लिए शङ्खमणि--शङ्खमुक्ता का धारण सेवन करना कोई मन्त्र जादू गण्डा तावीज की बात नहीं है। अस्तु।

प्राणिज या जान्तव मणि में 'अस्तृत' मणि—

अथर्ववेद का० १६ सूक्त ४६ में 'अस्तृत' मणि का वर्णन है यह 'अस्तृत' शब्द' अस्त्रित का है। सम्भव है मूलरूप वैदिक पाठ 'अस्त्रित' हो अन्यथा 'अस्त्रित' का 'अस्तृत' छान्दस प्रयोग है, उच्चारण में तो भेद नहीं है अर्थों में भी भेद न हो यह भी मानना कोई अनुचित नहीं है जैसे 'क्रिमि' और 'कृमि' शब्द दोनों उच्चारण में समान होते हुए अर्थों में भी समान हैं। इस प्रकार 'अस्तृत' को श्रुतिसामान्य से 'अस्त्रित' समझ लेना भी उचित हो सकता है निरुक्त में कहा भी है "अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन" (निरुक्त० २। १) इस प्रकार 'अस्तृत' को श्रुति-सामान्य से 'अस्त्रित' समझ लेने से

इसका अर्थ व्याघ्रनखजड़ित शास्त्र हो जाता है क्योंकि 'अस्त्र' का अर्थ व्याघ्रनख है "अस्त्रं व्याघ्रनखे" (वैद्यक शब्दसिन्धुः) इस अर्थ में वेद की इसी सूक्त में अन्तःसाक्षी भी है देखिये "अस्मिन् मणावेकशतं वीर्याणि सहस्रं प्राणा अस्मिन्नस्तृते। व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ सर्वान् यस्त्वा पृतन्यादधरः सो अस्त्वस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥" (मन्त्र ४) यहां स्पष्ट अस्तृत मणि को या उसके धारण करने वाले को व्याघ्र कहा गया है। सायण के वचन भी यहां देखने योग्य हैं "एवं वीर्यंप्राणोपतो मणिस्त्वं व्याघ्रः" (सायणः) व्याघ्र जङ्गल का राजा और पराक्रमी है उसके नख से जड़ा हुआ शस्त्र धारण करना हाथ में बांधना राजा के अन्दर व्याघ्रपराक्रम को उत्पन्न करने वाला हो सकता है। इस सूक्त में है भी पराक्रम का विषय, जैसे व्याघ्र शेर जंगल के सब प्राणियों को परास्त कर देता है एवं राजा के अन्दर भी शत्रुओं पर पराक्रम करने का साहस आवे इसलिये इस अस्तृत मणि के बांधने का अर्थव वेद में विधान है। मनपर शूरता वीरता पराक्रम के प्रभाव को डालना ही यहां उद्देश्य है। यहां कोई मन्त्र या जादू की बात नहीं किन्तु मनोवैज्ञानिक तथा धनुर्विद्या की बात है। अस्तु। अब सूक्त का अर्थ करते हैं।

प्रजापतिष्ट्वा बध्नात् प्रथममस्तृतं वीर्याय कम्।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चस ओजसे च बलाय
चास्तृतस्त्वभिरक्षतु ॥१॥

अर्थ—(प्रजापतिः) प्रजापालक सम्राट् (त्वा) तुझ (अस्तृतम्) व्याघ्रनखजड़ित शस्त्र को (वीर्याय) वीर्य-बल के लिए वीर्यप्राप्ति के लिए (कम्) अवश्य (प्रथमं बध्नात्) प्रथम बांधता है। अतः (तत्) उस (आयुषे) आयु के लिए (वर्चसे) तेज के लिए (च) और (ओजसे) प्रताप के लिए (च) और (बलाय) बल के लिए (ते) हे राजन्! तेरे (बध्नामि) बांधता हूं (अस्तृतः) वह व्याघ्रनखजडित शस्त्र (त्वा) तेरी (अभिरक्षतु) रक्षा करे ॥ १ ॥

व्याघ्रनख अर्थात् शेर का पञ्जा लगा हुआ शस्त्र हाथ में बांधने से राजा में मानसिक विद्युत् का प्रवाहरूप पराक्रम बढ़ जाता है। उससे आयु, तेज, प्रताप, बल का राजा में संचार होजाता है। राजसिंहासन पर बैठने वाले प्रत्येक राजा को पराक्रम देने वाला इस सिंघनख पञ्जे को शस्त्ररूप में धारण करना अत्युत्तम और आवश्यक है ॥ १ ॥

ऊर्ध्वस्तिष्ठतु रक्षन्नप्रमादमस्तृतेमं मा त्वा दभन्
पणयो यातुधानाः। इन्द्र इव दस्यूनव धूनुष्व
पृतन्यतः सर्वां छत्रून् विषहस्वास्तृतस्त्वाभिरक्षतु ॥२॥

अर्थ— (अस्तृतः) अस्तृतमणि—व्याघ्रनखयुक्त शस्त्र "विभक्तिलुक्" (इममप्रमादं रक्षन्) इस प्रमादरहित या

इस राजा की निरन्तर रक्षा करता हुआ (ऊर्ध्वः-तिष्ठतु) ऊंचा उन्नत रूप में स्थिर होवे (यातुधानाः) हे राजन् ! यातना धारण करने वाले–यातनाकारी (पणयः) व्यवहार-प्रयोग (मा त्वा दभन्) तुझे तिरस्कृत न करें। (इन्द्र इव) विद्युत् की भांति (दस्यून्) दस्युओं को (अवधूनुष्व) नष्ट कर (पृतन्यतः) सङ्ग्राम चाहते हुए (सर्वान् शत्रून्) सब शत्रुओं को (विषहस्व) परास्त कर (अस्तृतः) व्याघ्रनखशस्त्र (त्वा) तेरी (अभिरक्षतु) रक्षा करे ॥ २ ॥

शतं च न प्रहरन्तो निघ्नन्तो न तस्तिरे।
तस्मिन्निन्द्रः पर्यदत्त चक्षुः प्राणमथो
बलमस्तृतस्त्वाभिरक्षतु ॥ ३ ॥

अर्थ—(शतं प्रहरन्तः) व्याघ्रनख-शस्त्र-धारक को सैंकड़ों प्रकार से प्रहार करने वाले शत्रुजन (न तस्तिरे) हिंसित नहीं कर सकते (च) और (निघ्नन्तः) हिंसित करने वाले शत्रुजन भी (न) हिंसित नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उस व्याघ्रनख शस्त्र में (चक्षुः) प्रहार आदि करते हुए शत्रुओं के नेत्र (प्राणम्) प्राण (अथो) और (बलम्) बल को (इन्द्रः) विद्युत् (पर्यदत्त) तेरे परिगृहीत–वश कर देती है। वह (अस्तृतस्त्वाभिरक्षतु) व्याघ्रनखशस्त्र तेरी रक्षा करे ॥ ३ ॥

इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परिधापयामो यो देवानाम-
धिराजो बभूव। पुनस्त्वा देवाः प्रणयन्तु
सर्वेस्तृतस्त्वाभिरक्षतु ॥ ४ ॥

अर्थ—(त्वा) हे राजन् ! तुझे (इन्द्रस्य वर्मणा) इन्द्र के कवच से (परिधापयामः) परिरक्षित करते–ढाँपते हैं (यः) जो इन्द्र (देवनाम्) देवों का (अधिराजः) सम्राट् अधिपति (बभूव) है (पुनः) फिर (सर्वे देवाः) उस इन्द्र के सब देव–दिव्य गुण–दिव्यतरंगे (त्वा) तुझे (प्रणयन्तु) आगे प्रेरित करें और (अस्तृतः) व्याघ्रनखशस्त्र (त्वा) तेरी (अभिरक्षतु) रक्षा करे ॥ ४ ॥

अस्मिन् मणावेकशतं वीर्याणि सहस्रं प्राणा
अस्मिन्नस्तृते। व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ सर्वान्
यस्त्वा पृन्यादधरः सो अस्त्वस्तृतस्त्वाभिरक्षतु ॥५॥

अर्थ—(अस्मिन् अस्तृते मणौ) इस व्याघ्रनख-शस्त्ररूप मणि में (एकशतं वीर्याणि) एक सौ वीर्य बल हैं (अस्मिन्) इसमें (सहस्रं प्राणाः) हजारों प्राण हैं-जीवन को उत्साहित करने वाली शक्तियां हैं, अतः इस व्याघ्रनखशस्त्र-रूप मणि को हाथ में धारण करके हे राजन् ! तू (व्याघ्रः) साक्षात् व्याघ्र शेर जैसा बना हुआ है (सर्वान्–शत्रून्) सब शत्रुओं पर (अभितिष्ठ) आक्रमण कर (यः) जो (त्वा-

पृतन्यात्) तेरे साथ लड़ना चाहे (सः) वह (अधरः-अस्तु) परास्त हो। वह (अस्तृतः) व्याघ्रनख शस्त्र (त्वा) तेरी (अभि-रक्षतु) रक्षा करे ॥ ५ ॥

घृतादुल्लुप्तो मधुमान् पयस्वान्त्सहस्रप्राणः
शतयोनिर्वयोधाः । शंभूश्च मयोभूश्चोर्जस्वांश्च
पयस्वांश्चास्तृतस्त्वाभिरक्षतु ॥ ६ ॥

अर्थ—(घृतादुल्लुप्तः) घृत से चुपड़ा हुआ या घृत से तेज किया हुआ है या घृत से चुपड़ा चिकना बना हुआ जैसा (मधुमान्) शहद से भी संस्कृत किया गया हुआ मधु जैसा चमकदार (पयस्वान्) दूध जैसा शुभ्र रंग का (सहस्रप्राणः) हजारों प्राणशक्तियों का देने वाला (शतयोनिः) सैकड़ों कारणशक्ति वाला (वयोधाः) आयु का धारक है। उससे हे राजन् ! तू (शंभूः) कल्याणसाधक (मयोभूः) सुख का अनुभव कराने वाला (च) और (ऊर्जस्वान्) बलवान् (च) और (पयस्वान्) वीर्यवान् हो (अस्तृतः) वह व्याघ्रनखशस्त्र (त्वा) तेरी (अभिरक्षतु) रक्षा करे ॥ ६ ॥

यथा त्वमुत्तरोसो असपत्नः सपत्नहा ।
सजातानामसद् वशी तथा त्वा सविता
करदस्तृतस्त्वाभिरक्षतु ॥ ७ ॥

अर्थ—(यथा) जैसे हे राजन् ! (त्वम्) तू (उत्तरः) ऊंचा बढ़ा हुआ (असपत्नः) शत्रुरहित (सपत्नहा) शत्रुनाशक (असः) हो । तथा (सजातानाम्) समान उत्पत्ति वालों-समान देश वेश वालों का (वशी) वश करने वाला नियन्त्रक (असत्) हो सके (तथा) वैसे (सविता) सर्वैश्वर्यवान् जगदीश्वर (त्वा) तुझे (करत्) बनावे (अस्तृतः) व्याघ्रनख शस्त्र (त्वा) तेरी (अभिरक्षतु) रक्षा करे ॥ ७ ॥

इस प्रकार इस सूक्त में 'अस्तृत मणि' अर्थात् व्याघ्रनखशस्त्र के हाथ में बांधने धारण करने से मन पर वीरता आदि का प्रभाव पड़ कर शारीरिक तथा मानसिक बल उत्साह, तेज, ओज, पराक्रम, वीरता, शूरता आदि गुण बढ़ते हैं । जैसे खाली हाथ की अपेक्षा साधारण लाठी हाथ में रखने पर मनुष्य में बहुत कुछ उत्साह साहस आ जाता है फिर व्याघ्रनख जैसे शस्त्र के हाथ में रखने पर तो कहना ही क्या है । इसमें किसी गुप्त मन्त्र जादू या गण्डा तावीज की बात नहीं है यह तो मनोवैज्ञानिक तथा धनुर्विद्या सम्बन्धी बात है । वेद के इस 'व्याघ्रनखशस्त्र' का वर्णन "प्राचीन भारतीय युद्ध और युद्ध की सामग्री" नामक पुस्तक में "सिंहनखा" नाम का शस्त्र सं० ४६ में दिया हुआ भी है । अस्तु ।

वानस्पत्य मणि—

वनस्पतियों से बनाई मणि वानस्पत्य कहाती है, उसके दो भेद हैं । एक तो चन्दन आदि सारवान् तीव्र गन्ध-

वाले वृक्षों के आवश्यकतानुसार गोल, चतुष्कोण (चौकोन), त्रिकोण आदि टुकड़े के रूप में होती है*। दूसरे विशेषगुणकारी एक या अनेक ओषधियों के पत्र आदि भागों के स्वरस से रसक्रिया की बनाई गोली या पीसी लुगदी की या उनके चूर्ण की बनाई गोली टिकिया के रूप में होती है कौटिल्यार्थ शास्त्र में भी ऐसी मणियों के बनाने का विधान किया है—

जीवन्तीश्वेतामुष्ककपुष्पवन्दाकानामक्षीवे
जातस्य अश्वत्थस्य मणिः सर्वविषहरः ।
(कौटिल्यार्थ० । अधि १४ । प्रकरण १७६)

इस वचन में सर्व विष हरने के लिए 'जीवन्ती' अपराजिता या अतीस, मोखा, नागकेसर, वन्दा, सोंजने या महानिम्ब पर हुआ पीपल, इन सबका इन सबके स्वरस की रसक्रिया या चूर्ण की मणि (गोली या टिकिया) बनाने का विधान है । अस्तु ।

इस प्रकार वनस्पतियों के स्वरस से रसक्रिया वटी तथा उनके मूल, काण्ड, सार आदि की मणियां अथर्ववेद में कई वर्णित हैं हम उन सब का भी यहां विवेचन करते हैं ।

जङ्गिड मणि—

अथर्ववेद काण्ड २ सूक्त ४ तथा काण्ड १६ सूक्त ३४–३५ में 'जङ्गिड' मणि का वर्णन है । वह जङ्गिड क्या है

* "पीलुमयो मणिरग्निगर्भः" (कौटिल्यार्थ० प्र० १७८)

यह हमें देखना है। सायण ने अथर्व० २।४ के भाष्य में तो बनारस में प्रसिद्ध एक वृक्ष बतलाया है "जङ्गिडः वृक्षविशेषो वाराणस्यां प्रसिद्धः" (अथर्व० २।४।१। सायणः) और अथर्व० काण्ड १९ सू० ३४ के भाष्य में उत्तर देश में प्रसिद्ध विशेष ओषधि बतलाई है। "जङ्गिडो नाम कश्चित् ओषधिविशेषः स च उत्तरदेशे प्रसिद्धः' (अथर्व० १९।३४।१) इस प्रकार सायण का वचन सन्दिग्ध तथा परस्परविरुद्ध होने से प्रमाण न रहा। 'अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका' में इन दोनों स्थलों पर देवता चन्द्रमा, जङ्गिड और वनस्पति को बतलाया है।

दीर्घायुत्वाय इति चान्द्रमसमुत जङ्गिडदेवताकम्।

(अथर्व०–बृहत्सर्वा–२।४ पर १३)

जङ्गिडोसि जङ्गिड इति द्वे प्रथमं दशकं द्वितीयं
पञ्चकर्माङ्गिर उभे मन्त्रोक्तदेवत्ये उत वानस्पत्ये।

(अथर्व० बृहत्सर्वा० १९।३४, ३५ पर २२)

इसी प्रकार काण्ड १९। सू ३४ में उसे वनस्पति नाम से पुकारा है "उग्र इत्ते वनस्पते" (१९।३४।९) तथा का० २ सू० ४ में उसे अरण्य से लाई हुई बतलाया है "अरण्यादन्य आभृतः" (२।४।५)

इतने विवरण से यहां 'जंगिड' का स्वरूप निश्चय किया जा सकता है।

उपर्युक्त वचनों में जङ्गिड कोई वनस्पति है और वह चन्द्रमा से अभिन्न वस्तु है ऐसा कहा गया है। ऐसी वस्तु यहां सोम ओषधि है सोम एक वनस्पति भी है जैसा कि ऋग्वेद के सोमदेवता वाले नवम मण्डल में सोम को वनस्पति नाम दिया है। "वनस्पतिं पवमानमध्वा समङ्ग्धि धारया" (ऋ० ६।५।१०) तथा सोम को चन्द्रमा भी कहते हैं "चन्द्रमा सोमलताभेदे" (वैद्यक शब्दसिन्धुः) "अंशुमान्मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः। ...एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः" (सुश्रुत, चिकित्सास्थान। अ० २६। ३-६) अतएव अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका के "दीर्घायुत्वाय इति चान्द्रमसमुत जङ्गिडदेवताकम्" इस वचन में (४।२) सूक्त का देवता चन्द्रमा तथा जङ्गिड कथन से 'जंगिड' का अर्थ यहां सोम है। 'जङ्गिड' शब्द 'जङ्गन्ति' वैदिक धातु से बना है 'जंगति' गति अर्थ में है "जङ्गन्ति गतिकर्मा" (निघं० २। १४) से बना छान्दस प्रयोग "जङ्गिड" है, जिसका अर्थ स्वयं अपनी तरंगों धाराओं द्वारा गति करने वाला है तथा सेवन करने वाले में ज्ञान और प्रगति की धाराओं को उत्पन्न करने वाला है। "पवस्व सोम धारया" "पवस्व सोम रंह्या" (ऋ० ६।१। १२।१) इत्यादि वेदवचनों से भी स्पष्ट है। अथर्व० का० २। सू० ४ में "दीर्घायुत्वाय" सोम को दीर्घ आयु देने वाला कहा है। तथा अथर्व० का० १९। ३५ में "देवा यं चक्रुर्ब्राह्मणाः परिपाणमरातिहम्" सोम को ब्राह्मणों का रक्षक तथा उपादेय कहा है। वेद में कहे हुए आयुवृद्धि

और विद्याप्राप्ति या बुद्धिप्राप्ति उक्त दोनों गुण सुश्रुत आयुर्वैदिक ग्रन्थ में सोम के सेवन से बतलाये भी हैं। "ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम्। नाग्निर्न तोयं न विषं न शस्त्रं नास्त्रमेव च। क्षस्यालमायुः क्षपणे समर्थाश्च भवन्ति हि ॥"...साङ्गोपाङ्गांश्च निखिलान् वेदान् विन्दति तत्त्वतः (सुश्रुत चिकि० २६। १६-२४)। इस प्रकार विवेचन और प्रमाणों से जङ्गिड का अर्थ सोम ओषधि है और वह (अथर्व० २। ४) में सोमरसक्रिया से बनाई मणि अर्थात् गोली या टिकिया है। हां अथर्व० १६। ३४-३५) में जङ्गिड को मणि विशेषण न देने से यह 'जङ्गिड' सोमरस है जिसको पीने से उक्त लाभ होते हैं, अस्तु।

अब हम उपर्युक्त सूक्तों के अर्थ करते हैं। प्रथम अथर्व० का० २ सूक्त ४ को देते हैं।

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥

अर्थ-(वयम्) हम (अरिष्यन्तः) हिंसित न होते हुए (सदा-एव) सदा ही (दक्षमाणाः) बढ़ते हुए "दक्षवृद्धौ" (भ्वादि०) (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिए दीर्घजीवन के लिए (बृहते रणाय) महान् रमण के लिए (विष्कन्धदूषणम्) स्कन्धों-जोड़ों के शैथिल्य को दूर करने वाले (जङ्गिडं मणिम्) अन्तः स्थल में तथा आत्मा में उन्नति की तरंगों को उठाने

वाली सोमरसक्रिया से बनी मणि-गोली टिकिया को (बिभृम:) धारण-सेवन करते हैं ॥ १ ॥

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कन्धादभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

अर्थ—(सहस्रवीर्यः-जङ्गिडः-मणिः) सहस्रशक्ति-वाला सोमरसक्रिया गुटिकारूप जंगिड मणि (जम्भात) नाश से-क्षय से--देहपात से (विशरात्) शरीर के छिन्न भिन्न होने से (विष्कन्धात्) स्कन्धों-जोड़ों के शैथिल्यभाव से (अभिशोचनात्) मोह आदि मानसिक रोग से (नः) हमारी (विश्वतः) सब ओर से (परिपातु) भली भांति रक्षा करे ॥ २ ॥

अयं विष्कन्धं सहतेयं बाधते अत्रिणः ।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

अर्थ—(अयम्) यह जङ्गिड मणि (विष्कन्धं सहते) स्कन्धों रहित सर्वथा शिथिल निःसत्व बनाने वाले विषप्रयोग आदि को सहता है उसे निर्बल करता है (अयम्) यह (अत्रिणः-बाधते) राक्षसों रुधिर मांसभक्षक कृमियों को हटाता है—नष्ट करता है "अत्रिणो वै रक्षांसि" (ष० ३ । १) (अयं विश्वभेषजः- जङ्गिडः) यह समस्त रोगों का भेजषरूप

जंगिड औषधमणि (नः) हमें (अंहसः) दोष से रोग से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

अर्थ—(देवैर्दत्तेन) देवों के द्वारा दी हुई (मयोभुवा) सुखसम्पादक (जङ्गिडेन मणिना) जङ्गिड मणि से (विष्कन्धम्) शरीर को शिथिल निःसत्व करने वाले विषप्रयोग को या विषप्रयोग की विकलता को। तथा (सर्वा रक्षांसि) सारे घातक कृमियों जन्तुओं को (व्यायामे) पौरुष-संघर्ष के अवसर पर (सहामहे) सहते हैं—उनके प्रभावों से रहित होते हैं ॥ ४ ॥

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभिरक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥

अर्थ—(शणः-च) शण (जङ्गिडः-च) और जङ्गिड सोमरसक्रिया गुटिकारूप मणि दोनों (विष्कन्धात्) विष-प्रयोग से (मा) मेरी (रक्षताम्) रक्षा करें (अरण्याद् अन्यः) जंगल से अन्य जङ्गिड सोम (कृष्याः—अन्यः) खेती से अन्य शण (आभृतः) लाया गया है "हग्रहोर्भश्छन्दसि" (अष्टा० वार्तिक-म्रम्) इस प्रकार (रसेभ्यः) रसों से सोम की रसक्रिया से बना हुआ ।

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥६॥

अर्थ—(अयं जङ्गिडः-मणिः) यह जङ्गिड मणि (कृत्यादूषिः) कृत्या हिंसकक्रिया विषप्रयोग को दूषित करने वाली है (अथो) तथा (अरातिदूषिः) अपौष्टिक अवयवों तथा शरीराङ्गों का ह्रास करने वाले कृमियों को नष्ट करने वाली है (अथो) अनन्तर (सहस्वान्) उक्त दोषों को दूर करने वाली बल-सम्पन्न सोमरस-क्रिया से बनी गुटिका (नः) हमारी (आयूंषि) आयुओं को (प्रतारिषत्) आगे बढ़ावे ॥

इस सूक्त में 'जङ्गिड मणि' अर्थात् सोमरसक्रिया गुटिका के गुण बतलाए हैं कि दीर्घायु स्वास्थ्य पुष्टि देने वाला, विषप्रयोग और शरीरह्रास क्षय का निवारक, शरीर के अन्दर रुधिरमांसभक्षक कृमियों का नाशक है। वह ऐसा जङ्गिड मणि सोम के स्वरस की रसक्रिया-गुटिका शण के योग से बनाई हुई उसमें गुटिका बनाने के लिए शण अन्दर डाल कर गोली बनाना उचित होता है। उस गुटिका के धारण सेवन से उसकी उड़नशील गन्ध और रस श्वास के साथ फुफ्फुसों के अन्दर जाने से लाभ होता है।

दूसरा स्थल 'जंगिड' का है अथर्व० का० १६। सू० ३४-३५। यहां मन्त्रों में जङ्गिड को मणि शब्द से सम्बोधित किया है

परन्तु वह सोम वनस्पति के बने जङ्गिड को घिस कर पान लक्षित होता है, अर्थसहित सूक्त यहां दिये जाते हैं।

जङ्गिडोसि जङ्गिडो रक्षितासि जङ्गिडः।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वं रक्षतु जङ्गिडः ॥ १ ॥

अर्थ–(जङ्गिडः-असि जङ्गिडः) तू जंगिड सचमुच जंगिड है (जङ्गिडः) जंगिड (रक्षिता-असि) तू रक्षा का साधन है (जङ्गिडः) जंगिड (अस्माकम्) जो हमारे (द्विपात्) दो पैर वाला मनुष्य आदि (चतुष्पात्) चार पैर वाला गौ आदि है (सर्वम्) सब की (रक्षतु) रक्षा करे ॥ १ ॥

या गृत्स्यस्त्रिपञ्चाशीः शतं कृत्याकृतश्च ये।
सर्वान् विनक्तु तेजसोरसां जङ्गिडस्करत् ॥ २ ॥

अर्थ—(याः) जो (त्रिपञ्चाशीः-गृत्स्यः) तीन बार पचास[1] गर्धनशील अर्थात् शरीरधातुओं को खाने वाली व्याधियां है (च) तथा (ये शतं कृत्याकृतः) जो सौ सैकड़ों विषक्रिया करने वाले प्रयोग हैं (सर्वान्) सब को (तेजसः) तेज से (जङ्गिडः) जंगिड (विनक्तु) विचलित करे "विजि भयचलनयोः" (रुधादि०) तथा (अरसान् करत्) रसहीन कर दे।

१ शरीर के तीन भाग हैं एक शिर, दूसरा मध्य, तीसरा जघन अर्थात् नीचे का। इन प्रत्येक में पचास पचास व्याधियां होने से सब डेढ़ सौ हुईं।

अरसं कृत्रिमं नादमरसाः सप्त विस्रसः ।
अपेतो जङ्गिडामतिमिषुमस्तेव शातय ॥ ३ ॥

अर्थ—(जङ्गिड) हे सोमरसरूप जङ्गिड ओषधि ! तू (कृत्रिमं नादम्) कृत्रिम--स्फोटक पदार्थों से किए नाद को जो कि मस्तिष्क में या मन में भयरूप से बैठ गया है उसको (अरसम्) रसहीन--प्रभावहीन कर (सप्त विस्रसः) शत्रु के द्वारा छोड़ी हुई सात विद्युत्-धाराओं के प्रभावों या सात मूर्धा के छिद्रों--कानों आंखों नासिका छिद्रों और मुख में स्वयं बहते हुए रुग्ण छिद्र-स्रोतों को (अरसाः) निर्बल कर। तथा (अमतिम्) रोग महामारी या निर्बुद्धिता को (इतः) यहां से (इषुम्-अस्ता-इव) बाण को फैंकने वाले के सदृश (अप-शातय) नष्ट कर ॥ ३ ॥

कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥४॥

अर्थ—(अयं सहस्वान् जङ्गिडः) यह बलप्रद जङ्गिड-सोमरस (कृत्यादूषणः) कृत्याओं--हिंसकक्रियाओं को नष्ट करने वाला (एव) अवश्य है (अथो) तथा (अराति-दूषणः) शरीर के अन्दर अपौष्टिक अवयवों--रोगकारणों शरीर की क्षति के कारणरूप कृमियों का नष्ट करने वाला है (अथो) और (नः) हमारी (आयूंषि) आयुओं को (प्रतारिषत्) पूर्ण करता है--बढ़ाता है ॥ ४ ॥

स जङ्गिडस्य महिमा परि णः पातु विश्वतः ।
विष्कन्धं येन सासहे संस्कन्धमोज ओजसा ॥५॥

अर्थ—(जङ्गिडस्य) जङ्गिड की (सः) वह यह (महिमा) प्रभाव (नः) हमारी (विश्वतः) सब ओर से (परिपातु) रक्षा करता है (येन) जिससे (ओजसा) ओज को प्राप्त करके उस से (विष्कन्धम्) अङ्गशैथिल्य रोग रूप (संस्कन्धम्) अङ्गकाठिन्य रोग रूप (ओजः) रोगबल को (सासहे) तिरस्कृत करता हूं ॥ ५ ॥

त्रिष्ट्वा देवा अजनयन् निष्ठितं भूम्यामधि ।
तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः ॥६॥

अर्थ—(भूम्याम्–अधि) भूमि में (निष्ठितम्) निहित–गुप्तरूप से रखे हुए (त्वा) तुझ सोमरूप जङ्गिड को (देवाः) देवताओं–विद्वानों ने (त्रिः-अजनयन्) तीन वार वर्षा, ग्रीष्म और शीत ऋतुओं में उत्पन्न किया है (तम्–उ त्वा) उस तुझको निश्चय (अङ्गिराः) अङ्गिराः अर्थात् अथर्ववेदविधि में विद्वान् कुशल या अग्नि या प्राण "अङ्गिरा वा अग्निः" (श० ६।४।४।४) "प्राणो वा अङ्गिराः" (श० ६।१।२।२८) तथा (पूर्व्याः-ब्राह्मणाः-इति) पूर्वकाल में उत्पन्न या श्रेष्ठ ब्राह्मण ही (विदुः) जानते हैं ॥ ६ ॥

न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः ।
विबाध उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ ७ ॥

अर्थ—(त्वा) हे जंगिड सोम ! तुझे (न) न (पूर्वाः-ओषधयः) पहिली ओषधियां । तथा (त्वा) तुझे (न) न (याः-नवाः) जो नई ओषधियां हैं वे (तरन्ति) पार करती हैं—लांघती हैं (जङ्गिडः) जंगिडरूप सोम (उग्रः) उग्र प्रबल (विबाधः) रोग आदि का तिरस्कर्ता है । तथा (सुमङ्गलः) उत्तम कल्याण-साधक (परिपाणः) पूर्णरक्षक है ॥ ७ ॥

अथोपदान भगवो जङ्गिडामितवीर्य ।
पुरा त उग्रा ग्रसत उपेन्द्रो वीर्यं ददौ ॥ ८ ॥

अर्थ—(अथ) तथा (उपदान) हे समृद्धि देने वाले (भगवः) भगवान् ऐश्वर्यवान् (अमितवीर्य) अतुल-शक्तिमान् (जङ्गिड) जंगिड सोम ! (उग्राः) तीव्र बलवान् या उग्र तपस्वी जन (ते) तेरा (पुरा ग्रसते) पूर्वकाल में भक्षण करते थे या प्रथम भक्षण करते थे । तथा तेरे अन्दर (इन्द्रः) इन्द्र ने-सूर्य ने (वीर्यम्) वीर्य प्रबल गुण (उपददौ) स्थापन किया है ॥ ८ ॥

उग्र इत्ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ ।
अमीवाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे ॥ ९ ॥

अर्थ—(वनस्पते) हे वनस्पति ! (ते) तेरे अन्दर (उग्र-इत्) निश्चित उग्र प्रबल (इन्द्रः) इन्द्र ने (ओज्मानम्) ओज अतिबल को (आदधौ) स्थापित किया

है (ओषधे) हे जंगिड ओषधि ! तू (सर्वाः) सब (अमीवाः) रोगों का (चातयन्) नाश करता हुआ (रक्षांसि) दुःख-दायक कृमियों को (जहि) नष्ट कर ॥

आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम् ।
तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत् ॥ १० ॥

अर्थ—(जङ्गिडः) जंगिड सोम (आशरीकम्) शरीर को पूर्ण आघात पहुंचाने वाले रोग को (विशरीकम्) किसी विशेष अङ्ग को तोड़ देने वाले रोग को (बलासम्) बलनाशक क्षय या कफरोग को (पृष्ट्यामयम्) पसलियों में छाती में होने वाले शूल रोग को (तक्मानम्) अति-कष्टदायक विषमज्वर को (विश्वशारदम्) समस्त शरद् ऋतु में रहने वाले पाण्डु रोग को (अरसान्) रसहीन शक्ति हीन निर्बल अर्थात् नष्ट (करत्) कर देता है ॥ १० ॥

तथा—

इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयो जङ्गिडं ददुः ।
देवा यं चक्रुर्भेषजमग्रे विष्कन्धदूषणम् ॥ १ ॥

(अथर्व० १९ । ३५)

अर्थ—(ऋषयः) ऋषियों ने (इन्द्रस्य नाम) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर का नाम ग्रहण करते हुए-ईश्वर का

आराधन उपासन करते हुए (जङ्गिडम्) सोम-रूप जंगिड ओषधि को (ददुः) खोजकर दिया है। पुनः (यम्) जिसको (देवाः) विद्वानों—आयुर्वेदविद्याकुशल विद्वानों ने (अग्रे) प्रथम प्रथम (विष्कन्धदूषणम्) शरीर को शिथिल करने वाले विषादिकृत रोग को नष्ट करने वाला (भेषजम्) भेषज ओषधि (चक्रुः) बनाया है ॥ १ ॥

स नो रक्षतु जङ्गिडो धनपालो धनेव ।
देवा यं चक्रुर्ब्राह्मणाः परिपाणमरातिहम् ॥ २ ॥

अर्थ—(स जङ्गिडः) वह जंगिड सोम (धनपालः-धना-इव) धनपाल जैसे धन की ऐसे (नः) हमारी (रक्षतु) रक्षा करे (यम्) जिसको (देवाः-ब्राह्मणाः) विद्वान् ब्राह्मणों ने (परिपाणम्) परिरक्षक तथा (अरातिहम्) क्षयकारक प्राणी आदि का नाशक (चक्रुः) बनाया है ॥ २ ॥

दुर्हार्दः संघोरं चक्षुः पापकृत्वानमागमम् ।
तांस्त्वं सहस्रचक्षो प्रतीबोधेन नाशय
परिपाणोसि जङ्गिडः ॥ ३ ॥

अर्थ—(दुर्हार्दः) हृदय के दुर्भावों—रोगों को (पापकृत्वानं संघोरं चक्षुः) पापकारी बुरी दृष्टि या बुरे नेत्र रोग को (आगमम्) मैं प्राप्त हो जाता हूं (तान्) उन रोगों

और दोषों को (त्वं सहस्रचक्षो) तू बहुत सचेत करने वाले मेधाजनक ! (प्रतीबोधेन) प्रतीबोध से प्रतीबोध देकर सात्विक यथार्थबुद्धि देकर (नाशय) नष्ट कर (जङ्गिडः परिपाणः-असि) जंगिडरूप सोम तू परिपालक है ॥ ३ ॥

परि मा दिवः परि मा पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् परि मा वीरुद्भ्यः । परि मा भूतात् परि मोत भव्याद् दिशो दिशो जङ्गिडः पात्वस्मान् ॥ ४ ॥

अर्थ—(जङ्गिडः) सोमरूप जंगिड (मा) मेरी (दिवः) द्युलोक से (परिपातु) रक्षा करे (मा पृथिव्याः परि) पृथिवी से मेरी रक्षा करे (वीरुद्भ्यः-मा परि) ओषधियों से मेरी रक्षा करे (मा भूतात् परि) भूतकालिक दोष से मेरी रक्षा करे (अन्तरिक्षात् परि) अन्तरिक्ष से रक्षा करे (उत) तथा (भव्यात्-मा परि) भविष्य से मेरी रक्षा करे (दिशः- दिशः) दिशा दिशा से (अस्मान्) हमारी (पातु) रक्षा करे ॥ ४ ॥

य ऋष्णवो देवकृता य उतो ववृतेन्यः ।
सर्वांस्तान् विश्वभेषजोरसां जङ्गिडस्करत् ॥ ५ ॥

अर्थ—(ये) जो (देवकृताः) देव के किए ईश्वरीय या प्रकृति के देवों के किए (ऋष्णवः) उत्पात हिंसाकारक प्रभाव हैं "रिष हिंसायाम्" (भ्वादि०) 'रिकारस्य ऋकारश्छान्दसः' (उत) तथा (यः) जो (अन्यः) दूसरा

अपना किया-अपने अपराध से हुआ दुःख (ववृते) पुनः पुनः घेर रहा है (विश्वभेषजः-जङ्गिडः) समस्त ओषधियों के गुणों वाला सोमरूप जङ्गिड (तान् सर्वान्) उन सबको (अरसान्-करत्) अरस-निर्बल कर देता है ॥ ५ ॥

इस प्रकार १६ वें काण्ड के इन दोनों ३४-३५ वें सूक्तों में सोम-रसरूप जङ्गिड को विषदोषनाशक, कृत्रिम विषक्रियाओं का नाशक, शरीर के अङ्ग अङ्ग में होने वाले रोग, कफरोग, पार्श्वपीड़ा, ज्वर, शरीर की शिथिलता, हृदय-रोग, नेत्ररोग को नष्ट करने वाला, आन्तरिक तथा अन्य कठिन रोगों का नाशक, स्वास्थ्य और आयुष्य को देने वाला निज के किए अपराध-रोगों और पाप-वासनाओं को दबाने वाला तथा दैविक उत्पातों के प्रभाव का नाशक बतलाया है । अस्तु ।

पर्ण मणि—

अथर्ववेद काण्ड ३ सूक्त ५ में सोमलता को मणि कहकर वर्णन है। उक्त सूक्त का देवता 'अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका' में "आ त्वा गन् (३ । ४ । १) 'आयमगन्' द्वि द्वे सूक्ते, आद्यं सप्तकं द्वितीयमष्टकं पूर्वमैन्द्रमुत्तरं सौम्यम् ।" (अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका) 'पर्ण मणि' दिया है "आयमगन् पर्णमणिर्बली" (१) 'पर्ण' सोम का नाम है जैसे शतपथ ब्राह्मण

में कहा है "सोमो वै पर्णः" (श० ६।५।१।१)। इसी सूक्त में पर्ण मणि को चतुर्थ मन्त्र में सोम कहा भी है "सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्" (४) पूर्व कहे जङ्गिडरूपसोम' के प्रकरण में "इन्द्रो वीर्यं ददौ ॥ उग्र इत्ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ" अथर्व० १९।३४।८।९) "दीर्घायुत्वाय" (अथर्व० २।४।१) में सोमरूप जङ्गिड का इन्द्र के साथ सम्बन्ध तथा दीर्घायु के लिए उसका सेवन बतलाया है एवं यहां भी सोमरूप पर्णमणि का इन्द्र के साथ सम्बन्ध और दीर्घायु के लिए सेवन करना कहा है। "सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः। तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥" (अथर्व० ३।५।४)। इस प्रकार तुलना से जंगिड मणि और पर्णमणि सोम के स्वरूप हैं। जंगिड मणि सोम की रस-क्रिया गुटिका है और पर्णमणि केवल पत्तों के रूप में ही है। इसे पर्णमणि इसलिए भी कहा गया है कि अन्य वनस्पतियों की मणियां प्रायः सारमणियां या मूलमणियां हैं उनके सार (बीच के काष्ठ भाग) से तथा उनकी जड़ों से बनती है परन्तु सोम कोई वृक्ष नहीं है एक लता है अतः इसके पत्तों की ही मणि बन सकती है इसलिए इसे 'पर्णमणि' कहा है। हो सकता है इस पर्णमणि के हरे पत्ते सूखे पत्ते पास रखने चबाने खाने या स्वरस पीने आदि में उपयोग हो। अस्तु। मन्त्रार्थ निम्न प्रकार है।

आयमगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा
जिन्वत्वप्रयावन् ॥ १ ॥

अर्थ—(अयम्) यह (बली) बलवान् बलवर्द्धक (पर्ण-मणिः) सोमपत्र मणि (बलेन) स्वबलप्रदान द्वारा (सपत्नान्) मेरे शत्रुओं को (प्रमृणन्) विनष्ट करने के हेतु "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" (अष्टा० ३।२।१२६) (आगन्) मेरे अन्दर तरंगों के रूप में आता है जो (देवानाम्) देवों आकाश के दिव्य पदार्थों का (ओजः) ओज-स्वरूप है तथा (ओषधीनां पयः) पृथिवी पर उगने वाली ओषधियों का सार है वह (अप्रयावन्) मेरे अन्दर सात्म्य होता हुआ (मा) मुझे (वर्चसा) वीर्य-बल प्रताप से (जिन्वतु) पूर्ण करे—भर दे ॥१॥

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥२॥

अर्थ—(पर्णमणे) हे पर्णमणि—सोमपत्रमणि ! तू (मयि) मेरे अन्दर (क्षत्रम्) क्षात्रबल को मयि मेरे अन्दर (रयिम्) ऐश्वर्य को (धारयतात्) धारण करा—स्थापित कर (अहम्) मैं तेरे सेवन से (राष्ट्रस्य) राष्ट्र के (अभीवर्गे) मण्डल में—पार्लियामैण्ट में (उत्तमः) उत्कृष्ट—प्रधान (निजः-भूयासम्) अपनाया जाऊँ ॥२॥

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥३॥

अर्थ—(देवाः) प्रकृति के देवों-विद्युत् आदि दिव्य पदार्थों ने (वनस्पतौ) वनस्पति में (यं गुह्य प्रियं मणिम्) जिस रहस्यमय प्रिय मणि को (निदधुः) रखा है (तम्) उसको (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (आयुषा सह) आयु के साथ (देवाः) देव (भर्तवे) धारण करने के लिए (ददतु) देवें ॥३॥

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन
शिष्टः । तं प्रियासं बहुरोचमानो दीर्घायुत्वाय
शतशारदाय ॥४॥

अर्थ—(सोमस्य पर्णः) सोम का पत्र (उग्रं सहः) उग्र बलस्वरूप है । वह (इन्द्रेण दत्तः) सूर्यद्वारा दिया हुआ (वरुणेन शिष्टः) चन्द्रमाद्वारा विशिष्ट । गुण सम्पन्न किया हुआ (आगन्) प्राप्त हुआ है (तं बहुरोचमानः*) उस बहुत रोचमान रुचिकर सोमपर्ण को (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्ष के लिए दीर्घ जीवन के लिए (प्रियासम्) पसन्द करता हूं ॥४॥

---

* बहुरोचमानः, इति बहुरोचमानम् "सुपां सुलुक्०" (अष्टा० ७।१।३९) इति सुप्रत्ययः ।

आ मा रुक्षत् पर्णमणि र्मह्या अरिष्टतातये।
यथाहमुत्तरोसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥५॥

अर्थ—(पर्णमणिः) सोमपत्र मणि (मह्यै) महती (अरिष्टतातये) कल्याणकारिता के लिए (मा) मेरे प्रति (आरुक्षत्) आरोहण करे—प्राप्त हो (यथा) जिससे कि (अहम्) मैं (अर्यम्णः) चक्रवर्ती राजा का (उत) तथा (संविदः) पूर्ण विद्वान् का (उत्तरः)उत्कृष्ट-उत्तराधिकारी (असानि) होऊं।

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥६॥

अर्थ— (ये) जो (धीवानः) बुद्धिमान् (रथकाराः) यान आदि यन्त्र बनाने वाले (कर्माराः) अन्य कर्मकुशल शिल्पी (ये) जो (मनीषिणः) मनस्वी योगी-ऋषि-मुनि हैं। उन (सर्वान्) सब मनुष्यों को (पर्ण) हे सोमपत्रमणि ! (त्वम्) तू सेवन किया हुआ मेरे अन्दर गुण लाकर (मह्यम्-उपस्तीन्–अभितः कृणु) मेरे लिये पास रहने वाले भरपूर कर ॥६॥

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् ··· ॥७॥

अर्थ—(ये) जो (राजकृतः-राजानः) राजा को बनाने वाले राजा लोग हैं तथा (ये सूताः) जो मन्त्रीजन या रथनायक (च) और (ग्रामण्यः) ग्रामनेता हैं (उपस्तीन्) उन सब मनुष्यों को हे सोमपत्र मणि तू सेवन किया हुआ मेरे अन्दर गुणों को लाकर मेरे लिये पास रहने वाले खूब कर ॥७॥

पर्णोसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।

संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥८॥

अर्थ—(मणे) हे सोमपत्रमणि ! तू (मया वीरेण) मुझ वीर राजा के साथ (सयोनिः) समानाश्रयी- एकाङ्ग (वीरः) वीरस्वरूप– वीरताप्रद गुणों वाला (तनूपानः) शरीर-रक्षक (पर्णः) पत्र (असि) हो बन "लिङर्थे लेट्" (तेन) इस लिये (संवत्सरस्य तेजसा) सूर्य के तेज से–तेज के निमित्त "एष वै संवत्सरो य एष आदित्यः तपति" (श १४ । १ । १ । १७) (त्वा) तुझे (बध्नामि) बांधता हूं ॥८॥

इस सूक्त में 'सोमपत्र मणि' धारण करने से राजा के अन्दर शत्रुओं को संग्राम में परास्त करने का बल और साहस प्राप्त होता है, निज वर्ग में प्रताप दीर्घजीवन स्वास्थ्य पौरुष प्राप्त होता है। तथा सोमपर्ण मणि धारण करने से बुद्धि का विकास होकर राष्ट्रव्यवस्था को भी उत्तम बना लेता है–कैसे कैसे राष्ट्र में विद्वान् शिल्पी राजा सदस्य और

पदाधिकारी होने चाहिए इसका यथावत् गम्भीर विचार करके उन्हें उचित रूप में पदापन्न कर सकता है एवं राजा स्वयं सूर्य की भांति तेजस्वी हो जाता है। अस्तु। अब इसके पश्चात् अन्य वानस्पत्य मणि पर विचार करते हैं।

शतवार मणि—

अथर्व वेद काण्ड १६ सूक्त ३६ में शतवार मणि का वर्णन है यह 'शतवार' नाम किसी आयुर्वैदिक निघण्टु में कहा हुआ नाम नहीं है किन्तु वेद का अपना यौगिक नाम है स्वयं वेद ने इसका निर्वचन भी किया है, छठे मन्त्र में कहा है—"शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम्। शतं शश्वन्तीनां शतवारेण वारये (६) यहां मन्त्र में स्पष्ट 'शतं वारये' शतवार से शत (सैंकड़ों रोगों) को वारण करता हूं 'शतं वारयतीति शतवार' अर्थात् सैकड़ों – बहुत रोगजातियों का वारण करने वाला 'शतवार' है। इसका आयुर्वैदिक नाम क्या है अब यह देखना है। स्वयं वेद ने ही पांचवें मन्त्र में इसका आयुर्वेदिक नाम भी बता दिया है "हिरण्यश्रृङ्ग ऋषभः शतवारो अयं मणिः" (५) सुनेहरे श्रृङ्ग अर्थात् श्रृङ्ग- जैसे अग्रभागों नोकों वाला ऋषभ अर्थात् ऋषभक ओषधि यह शतवार मणि है। वेद ने ऋषभक ओषधि को यहां शतवार मणि कहा है। ऋषभक ओषधि का नाम ऋषभ भी है तथा जो उसके साथ 'हिरण्यश्रृङ्गः' श्रृङ्ग

का सम्बन्ध इस पञ्चम मन्त्र में तथा "शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते" (२) द्वितीय मन्त्र में बताया है सो ऋषभक ओषधि को 'शृङ्गी' कहा भी है और शृङ्ग अर्थात् सींग का आकार होता है। देखिए आयुर्वैदिक निघण्टु में इसके नाम और आकृति का वर्णन है।

ऋषभो गोपतिर्धीरो विषाणी दुर्धरो वृषः।
ककुद्मान् पुंगवो वोढ़ा शृङ्गी धुर्यश्च भूपतिः॥
(राजनिघण्टु)

जीवकर्षभकौ ज्ञेयौ हिमाद्रिशिखरोद्भवौ।
रसोनकन्दवत् कन्दौ निस्सारौ सूक्ष्मपत्रकौ॥
जीवकः कूर्चिकाकार ऋषभो वृषशृङ्गवत्।
(भावप्रकाश नि०)

इन वचनों में ऋषभ ओषधि जिसे ऋषभक भी कहते हैं उसे शृङ्गी नाम भी दिया है। उस की आकृति लहसुन के कन्द - जैसे. परन्तु दोनों ओर शृङ्गाकार बनी होती है। अतः यहां सूक्त में ऋषभक ओषधि ही शतवार मणि कही गई है। ऋषभक अष्टवर्ग की ओषधियों में से एक है जिन्हें आजकल अप्राप्य कहा जाता है परन्तु ये अप्राप्य नहीं। इन नामों से इनका व्यवहार नहीं रहा अन्य नाम हो गए। ऋषभक ओषधि हमारी सम्मति में "सालव मिश्री" है उसकी आकृति वही है जो ऋषभक की बतलाई है कि लहसुन-जैसी सालव मिश्री होती है। सालव मिश्री भी दो प्रकार

की है, छोटी और बड़ी। बड़ी ऋषभक है और छोटी सम्भवतः जीवक हो। गुण भी सालव मिश्री के ऋषभक। जैसे हैं, सालव मिश्री पौष्टिक वीर्यवर्द्धक है और हिमालय में होती है। अब मन्त्रार्थ करते हैं।

शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा।
आरोहन् वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः ॥ १ ॥

अर्थ—(शतवारः-मणिः) सैंकड़ों बहुत रोगों का निवारण करने वाली 'ऋभषक' ओषधिमणि (तेजसा) तेज से स्वकीय तीव्र गुण स्व-प्रभाव से (यक्ष्मान्) रोगों को तथा (रक्षांसि) रक्तभक्षक कृमियों को (अनीनशत्) भली प्रकार नष्ट करती है (वर्चसा सह-आरोहन्) और अपने गुण बल के साथ शरीर में आरोहण करती हुई शरीर की रक्त आदि धातुओं पर अधिकार जमाती हुई (दुर्णामचातनः) बुरे नाम वाले अकथनीय गुह्यरोगों को नष्ट करने वाली होती है ॥ १ ॥

शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते मूलेन यातुधान्यः।
मध्येन यक्ष्मं बाधते नैनं पाप्माति तत्रति ॥ २ ॥

अर्थ— (शृङ्गाभ्याम्) दोनों सिरों से (रक्षः) रक्त आदि धातुओं के भक्षक कृमियों को (नुदते) ताड़ित

करता है नष्ट करता है (मूलेन) मूल से (यातुधान्यः) हिंसाकारक बाह्यक्रियाओं तथा उनके प्रभावों को नष्ट करता है (मध्येन) मध्य से (यक्ष्मम्) यक्ष्मरोग को बाधते हटाता है (पाप्मा) "ज्वर पाप्मा ज्वरे" (रस-र -वैद्यक शब्दसिन्धु) (एनत्) इस ऋषभक को (न) नहीं (अतितत्रति) अतिप्लवन करता है—लांघता है ।

ये यक्ष्मासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः ।
सर्वां दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत् ॥ ३ ॥

अर्थ—(ये यक्ष्मासः) जो रोग (अर्भकाः) छोटे (महान्तः) बड़े (ये च) और जो (शब्दिनः) शब्द-वाले कराहट शब्द कराने वाले या केवल रोग हैं ऐसा कहे जाने वाले हैं किन्तु वास्तविक निदान और चिकित्सा में सन्दिग्ध हैं ऐसे उन (सर्वान्) सब रोगों को (दुर्णामहा) गुह्य रोग-नाशक (शतवारः-मणिः) ऋषभक नाम वाली ओषधि (अनीनशत्) सर्वथा नष्ट कर देती है ॥ ३ ॥

शतं वीरानजनयच्छतं यक्ष्मानपावपत् ।
दुर्णाम्नः सर्वान् हत्वाव रक्षांसि धूनुते ॥ ४ ॥

अर्थ—(शतं वीरान् अजनयत्) उक्त 'ऋषभक' ओषधि बहुत पुत्रों को उत्पन्न करती है "पुत्रो वै वीरः" (श० ३ । ३ । १ । १२) (शतं यक्ष्मान् अपावपत्) बहुत रोगों को

नष्ट करती है (सर्वान् दुर्णाम्नः-हत्वा) सब गुह्य रोगों को नष्ट करके (रक्षांसि-अवधूनुते) रक्तभक्षक कृमियों को नष्ट करती है।

हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः ।
दुर्णाम्नः सर्वास्तृड्ढ्वा रक्षांस्यक्रमीत् ॥ ५ ॥

अर्थ—(अयं शातवारः-मणिः) यह शतवार ❀ मणि (हिरण्यशृङ्ग ऋषभः) सुनेहरी-से पीले रंग वाले सिरों वाला ऋषभक ओषधि है (सर्वान् दुर्णाम्नः) वह सब गुह्य रोगों को (तृड्ढ्वा) छिन्न भिन्न करके (रक्षांसि) रक्त भक्षक कृमियों को (अक्रमीत्) हटा देता है—परास्त कर देता है ॥

शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम् ।
शतं शश्वन्वतीनां शतवारेण वारये ॥ ६ ॥

अर्थ—(अहम्) मैं (शतं दुर्णाम्नीनाम्) बहुतेरे गुह्यरोगों को (शतं गन्धर्वाप्सरसाम्) बहुतेरे शरीर में गन्ध-छोड़ने वाले और रक्त में गति करने वाले कृमियों को (शतं शश्वन्तीनाम्) बहुतेरी पुरानी व्याधियों को (शतवारेण)

❀ शतवार एव शातवारः स्वार्थे अण् प्रत्ययः ।

बहुत रोगों को हटाने वाली 'ऋषभक' ओषधि से (वारये) वारित करता हूं–हटाता हूं ॥

इस सूक्त में ऋषभकरूप शतवार मणि को क्षय जैसे कठिन रोग, रक्त आदि भक्षक कृमि, गर्भ सम्बन्धी गुह्य-रोग, ज्वर, सन्दिग्ध रोगों, मांस आदि दूषित रूप, पुरानी व्याधियों को नष्ट करने वाला तथा पुत्रोत्पत्ति शक्ति देने वाला बतलाया है। दुर्णाम अर्थात् गुह्यरोगों को दूर करने का पुनः पुनः आवर्तन दर्शाता है कि स्त्री पुरुष के उपस्थ योनि आदि सम्बन्धी सभी रोगों को यह ऋषभक ओषधि रूप शतवार मणि अवश्य सर्वथा दूर करती है, आयुर्वैदिक निघण्टुओं में भी इसके गुण ऐसे ही बतलाए हैं—

ऋषभको मधुः शीतो गर्भसन्धानकारकः ।
शुक्रधातुकफानां च कारको बलदायकः ॥
वृष्यः पुष्टिकरः प्रोक्तः पित्तरक्तातिसारजित् ।
रक्तरुक् कृशतावातज्वरदाहक्षयापहः ॥

(नि० २०)

यहां आयुर्वैदिक निघण्टु में 'ऋषभक' ओषधि के तुलनात्मक गुण देखें उसे गर्भसन्धानकारक अर्थात गर्भस्थापन-कराने वाला, शुक्र अर्थात् वीर्य का बढ़ाने वाला, बलदायक, वृष्य, पुष्टिकर, कृशतानाशक, ज्वरनाशक, क्षयनाशक कहा है ॥

औदुम्बर मणि—

अथर्ववेद काण्ड १६ सूक्त ३१ में 'औदुम्बर मणि' का वर्णन है। यह भी वानस्पत्य मणि है, उदुम्बर गूलर वृक्ष को कहते हैं। मणि प्रकरण के प्रारम्भ में हम बतला आए हैं कि मणियों के तीन प्रयोजन हैं जो कि भूषा-शोभा, मन में प्रसन्नता, शान्ति और वीरता के भाव लाना, तीसरे रोगों और विषों का अनाक्रमण तथा उनका प्रतीकार। भूषा-शोभा के प्रसङ्ग में भी बतला दिया गया है कि न केवल शरीर की ही भूषा या शोभा के लिए मणियां धारण की जाती हैं किन्तु आसन्दी (कुरसी) मेज आदि उपकरणों पर भूषा-शोभा के लिए शङ्ख, काचमणि, आदि पदार्थ लगाए और रखे जाते हैं। मकान की भूषा-शोभा के लिए बारहसिंगे का सींग, हाथी दांत, हीरे पन्ना आदि मणियां भित्ति छत आदि में लगाई जाती हैं एवं ग्राम की शोभा-भूषा तथा सार्वजनिक और पशुओं के हित के लिए औदुम्बर मणि वनस्पतिरूप में (वृक्ष के रूप में) ग्राम में लगाना उसे सुरक्षित रखना चाहिए ऐसा ही इस सूक्त के मन्त्रों से सिद्ध होता है। जैसे मन्त्र ६ में उसे वनस्पति कहकर सम्बोधन किया है "यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे" (६) तथा इस मणि को मन्त्र १२ में 'ग्रामणी' ग्राम का नेता साथ में 'अभिषिक्त' जल से सींचा हुआ भी कहा है "ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोऽभि मा सिञ्च

वर्चसा ॥" (१२) इस प्रकार ग्राम में लगा हुआ उदुम्बर (गूलर) ग्राम की शोभा को बढ़ाता है साथ में अन्य अनेक लाभ भी वेद ने ऐसे बतलाए हैं जिनका खाने के साथ सम्बन्ध है जैसे मन्त्र ११ में "स त्वमस्मत्सहस्व"………क्षुधं च ।" क्षुधा (भस्मक रोग) को हमसे दूर कर। क्षुधानिवृत्त करने का खाने के साथ सम्बन्ध है। उदुम्बर का फल क्षुधा और तृषा को दूर करने वाला है यह बात आयुर्वैदिक निघण्टु रत्नाकर में भी कही है "उदुम्बरः शीतलः स्याद्……। कोमलं चास्य फलं ……तत्पक्वं……रक्तरुक्पित्तदाहक्षुत्तृषाश्रमप्रमेहहम् ।" (नि० र०) उदुम्बर के फल क्षुधानाशक हैं इस विषय में अन्य शास्त्रों के प्रमाण भी देखने योग्य हैं। "उदुम्बरफलं पक्वमङ्कोलीतैलपाचितम् । भुक्त्वा मासं क्षुधां हन्ति पिपासां नात्र संशयः" (सिद्धनागार्जुन कक्षपुट कौतुकक्रजाप्राः । ७) "शिरीषोदुम्बरशमीचूर्णं सर्पिषा संहृत्या-र्धमासिकः क्षुद्योगः," (कौटिल्यार्थ शास्त्र । १७८ प्र०) इन वचनों में कहा है कि उदुम्बर फल को अङ्कोल बीज के तैल में पकाकर खाने से एक मास तक क्षुधा नहीं सताती । दूसरे योग में शिरस, उदुम्बर, शमी को घृत में मिलाकर खाने से आधे मास कत क्षुधा नहीं लगती । इस प्रकार उदुम्बर के फलों से क्षुधा की निवृत्ति होती है यहां सूक्त में ऐसा होने से उदुम्बर का वृक्षरूप में ग्राम के अन्दर रखना ही उसका मणि होना अभीष्ट हैं। अन्य भी इसके कई कारण हैं स्वयं सूक्त में कहे हैं जो आगे बतलाए जावेंगे, अब सूक्तार्थ करते हैं।

औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा।
पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत् ॥१॥

अर्थ—(औदुम्बरेण) उदुम्बर वृक्षों के समूह-रूप * (वेधसा) प्रजापति पदवाच्य (मणिना) ग्राम की शोभा करने वाली मणि के द्वारा (सविता) उत्पादक परमेश्वर या उत्पत्ति-शक्ति-वर्द्धक सूर्य (मे पुष्टिकामाय) मुझ पुष्टि चाहने वाले के लिये (गोष्ठे) गोष्ठ में गौओं के बाड़े में (सर्वेषां पशूनाम्) सब पशुओं की (स्फातिम्) वृद्धि—समृद्धि को (करत्) करे ॥ १॥

ग्राम के बीच या ग्राम के किसी एक किनारे पर कुछ उदुम्बर वृक्षों का समूह होना चाहिए वहां गौ भैंस आदि के नित्य बैठने उठने विश्राम पाते रहने से उन गौ आदि पशुओं की वृद्धि होती है। वह उनमें पुष्टि और सन्तति-शक्ति देता है आगे यह विषय आने वाला है। इस प्रकार गोष्ठ तथा गौओं पशुओं के साथ उदुम्बर का सम्बन्ध वृक्ष-रूप में ही सम्भव है यह सिद्ध होता है।

---

* "औदुम्बर" इस पद के सम्बन्ध में सायण ने "तस्य विकारः इति अण् प्रत्ययः" विकार अर्थ में अण् प्रत्यय बतलाया है परन्तु यहां अण् नहीं है क्योंकि वेद में यहां "औदुम्बरेण" पद आद्युदात्त है अण् होने पर प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त होना चाहिए था। परन्तु यहां तो समूह अर्थ में अञ् प्रत्यय है अञ् के ञित् होने से "ञ्नित्यादिर्नित्यम्-" (अष्टा० ६ । १ । १९७) से आदि उदात्त हो जाता है।

योनो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत् ।
औदुम्बरो वृषा मणिः स मा सृजतु पुष्ट्या ॥२॥

अर्थ—(यः) जो (औदुम्बरः-वृषा मणि) सुख-वर्षक उदुम्बर-समूह रूप शोभायमान मणि (नः) हमारे (पशूनाम्) पशुओं का (गार्हपत्यः-अग्निः-अधिपाः) पालक गार्हपत्य अग्नि (असत्) है (सः) वह (पुष्ट्या) पुष्टि समृद्धि के साथ (मा सृजतु) मुझे संयुक्त करे ॥२॥

इस मन्त्र में बतलाया है कि जैसे मनुष्यों के घर में गृहपति–घर के स्वामी के साथ सम्बन्ध रखने वाली गार्हस्थ्य धर्म-का अधिनायक गार्हपत्य अग्नि होती है एवं पशुओं के घर–बाड़े–हाते–घेरे या उनके बैठने आदि के स्थान-रूप घर में उदुम्बर-समूह गार्हपत्य अग्नि है यही उनके अन्दर गार्हपत्य अग्नि का काम करता है उसकी छाया का सेवन फल पर्ण आदि का खाना उन्हें गर्भस्थापन एवं सन्ततिशक्ति को प्रदान करता है, इस कथन से भी उदुम्बर के वृक्ष का गोष्ठ में खड़े रहना ही वहां लक्षित होता है ॥ २ ॥

करीषिणीं फलवतीं स्वधामिरां च नो गृहे ।
औदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु मे ॥ ३ ॥

अर्थ—(धाता) परमेश्वर या सूर्य (औदुम्बरस्य तेजसा) उदुम्बरवृक्षसमूह के प्रभाव से (मे) मेरे लिये

(करीषिणीम्) गोबर करने वाली स्वस्थ नित्यपुष्ट "नित्यपुष्टां करीषिणीम्" (महानारायणोप०) (फलवतीम्) सन्तति वाली (इराम्) गौ को "इला गोनाम्" (निघं० १ । ११) (च) और (स्वधाम्) अन्न सम्पति को (पुष्टिम्) पुष्टि को (नः-.गृहे) हमारे घर में (दधातु) धारण करावे--स्थापित करे ॥ ३ ॥

यद् द्विपाच्च चतुष्पाच्च यान्यन्नानि ये रसाः ।
गृह्णे ऽहं त्वेषां भूमानं बिभ्रदौदुम्बरं मणिम् ॥४॥

अर्थ—(यत् च द्विपात्) जो भी दोपैरवाले पुत्रादि (चतुष्पात् च) और चार पैर वाले गौ आदि पशु (यानि-अन्नानि) जो अन्न हैं (ये रसाः) जो स्वादु रस दूध आदि हैं (एषां तु) उन सभी के (भूमानम्) बाहुल्य—आधिक्य अधिकता को (अहम्) मैं (औदुम्बरं मणिं बिभ्रत्) उदुम्बर वृक्षों के शोभायमान समूह को धारण करता हुआ रखता हुआ (गृह्णे) प्राप्त करता हूं ॥ ४ ॥

उदुम्बर वृक्षों तथा उनके फल आदि के सेवन से निज सन्ततिवृद्धि और पशुसन्ततिवृद्धि होती है, पशु सन्तति-वृद्धि से दूध आदि रस और अन्नों की वृद्धि होती है ॥४॥

पुष्टिं पशूनां परिजग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च
धान्यम्। पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः
सविता मे नियच्छात् ॥५॥

अर्थ—(अहम्) मैं (पशूनां पुष्टिम) पशुओं की पुष्टि-पशुओं का पुष्ट होना (च) और (द्विपदां चतुष्पदाम्) दो पैर वालों तथा चार पैर वालों का (धान्यम्) अन्न-भोजन (परिजग्रभ) स्वायत्त करता हूं। तथा (पशूनां पयः) पशुओं के दूध को (ओषधीनां रसम्) ओषधियों के रस को (सविता) उत्पादक (बृहस्पतिः) महान् परमेश्वर या सूर्य (मे) मेरे लिए (नियच्छात्) देवे।

उदुम्बर वृक्षों के द्वारा पशुओं में पुष्टि और, ओषधियों में रस अन्न की वृद्धि होती है। इसलिए उदुम्बर वृक्षों का गोष्ठस्थानों खेतों में रहना अत्यावश्यक है॥ ५॥

अहं पशूनामधिपा असानि मयि पुष्टं पुष्टपति-
र्दधातु। मह्यमौदुम्बरो मणिर्द्रविणानि नियच्छतु॥६॥

अर्थ—(अहम्) मैं (पशूनाम्) पशुओं का (अधिपाः) स्वामी (असानि) होऊं (पुष्टपतिः) पोषण शक्ति का पालक उदुम्बर-समूह (मयि) मुझ में (पुष्टं दधातु) पोषण धारण करावे (औदुम्बरः-मणिः) उदुम्बरवृक्ष समूह मणि (मह्यम्) मेरे लिए (द्रविणानि) बलों "द्रविणं बलनाम" (नि० घं० २।९) (नियच्छतु) देवे॥६॥

उप मौदुम्बरो मणिः प्रजया च धनेन च।
इन्द्रेण जिन्वितो मणिरामागन् सह वर्चसा॥ ७॥

अर्थ—(औदुम्बरः-मणिः) उदुम्बर-वृक्ष-समूह मणि (मा) मुझे (प्रजया च) सन्तति से (धनेन च) और धन से (उपागन्) प्राप्त हो तथा (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर या सूर्य से (जिन्वितः) प्रेरित किया हुआ (मणिः) उदुम्बर-वृक्ष समूह मणि (वर्चसा सह) गुण प्रभाव से (मा) मुझे 'उपागन्' प्राप्त हो ।

देवो मणिः सपत्नहा धनसा धनसातये ।
पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नियच्छतु ॥ ८ ॥

अर्थ—(देवः- मणिः) सुख देने वाला यह उदुम्बर वृक्ष समूह मणि (सपत्नहा) रोगरूप शत्रुओं का नाशक (धनसाः) गौ आदि समृद्धिरूप धनैश्वर्य का सेवन कराने वाला (धनसातये) उक्त धनैश्वर्य के सेवन कराने के लिए (पशोः) पशु के (अन्नस्य) अन्न के (भूमानम्) बाहुल्य अधिकता को (गवाम्) गौओं के (स्फातिम्) वृद्धि फैलाव को (नियच्छतु) प्रदान करे ॥ ८ ॥

यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे ।
एवा धनस्य मे स्फातिमादधातु सरस्वती ॥ ६ ॥

अर्थ—(वनस्पते) हे वनस्पति ! (यथा) जैसे (त्वम्) तू (अग्रे) प्रथम ही (पुष्ट्या सह) पुष्टि के साथ

वृद्धि समृद्धि के साथ (जज्ञिषे) उत्पन्न हुआ है (एव) इसी प्रकार तेरे सेवन और वास से (सरस्वती) गौ "सरस्वती गौः" (मेदिनी) (मे) मेरे लिए (धनस्य) धन की ऐश्वर्य की (स्फातिम्) समृद्धि को (आदधातु) स्थापन करे ॥ ६ ॥

आ मे धनं सरस्वती पयस्फातिं च धान्यम् ।
सिनीवाल्युपावहादयं चौदुम्बरो मणिः ॥ १० ॥

अर्थ—(सरस्वती) गो (मे) मेरे लिए (धनम्) धन (धान्यम्) धान्य-अन्न (पयस्फातिं च) और दूध की वृद्धि को (आ 'आवहात') प्राप्त करावे । तथा (अयम्-औदुम्बरः-मणिः) यह उदुम्बर-वृक्ष-समूह-रूप मणि (च) और (सिनीवाली) गौ "या गौः सा सिनीवाली" (ऐ० ३ । ४८) (उपावहात्) उक्त ऐश्वर्य को प्राप्त करावे ॥ १० ॥

त्वं मणीनामधिपा वृषासि त्वयि पुष्टं पुष्टपतिर्जजान ।
त्वयीमे वाजा द्रविणानि सर्वौदुम्बरः स त्वमस्मत्
सहस्वारादरातिमतिं क्षुधं च ॥ ११ ॥

अर्थ—(त्वम्) तू (मणीनाम्-अधिपाः) अन्य मणियों का या मणिरूप गौओं का रक्षक । तथा (वृषा-असि) सुखवर्षक है (पुष्टपतिः) सब रक्षकों के पुष्ट करने वाले परमेश्वर या सूर्य ने (त्वयि) तेरे अन्दर (पुष्टं जजान)

पोषण धर्म को उत्पन्न किया है (त्वयि) तेरे अन्दर (इमे वाजाः) ये बल। तथा (सर्वा द्रविणानि) सब अन्न धन हैं (सः- त्वम्- औदुम्बरः) वह तू उदुम्बरवृत्तसमूह (अस्मत्) हमारे से (अरातिम्) अलाभ को (अमतिम्) रोग को (च) और (क्षुधम्) क्षुधा को (आरात्-सहस्व) दूर भगा ॥ ११ ॥

ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोभि मा सिञ्च
वर्चसा। तेजोसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं
मे धेहि ॥ १२ ॥

अर्थ—(ग्रामणीः-असि) तू ग्रामणी है—ग्राम का आश्रयभूत है तू (ग्रामणीः) ग्रामणी (अभिषिक्तः) अभिषिक्त हुआ (उत्थाय) उठकर बढ़कर शाखादि से पूर्ण होकर (मा) मुझे (वर्चसा) तेज से (सिञ्च) सींच (तेजः-असि) तू तेजोरूप है (मयि-अधि) मेरे अन्दर (तेजः) तेज को (धारय) धारण करा (रयिः-असि) तू ऐश्वर्यरूप है (मे) मेरे में (रयिं धेहि) ऐश्वर्य धारण करा ॥ १२ ॥

पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समङ्ग्धि गृहमेधी गृहपतिं मा
कृणु। औदुम्बरः स त्वमस्मासु धेहि रयिं च नः
सर्ववीरं नियच्छ रायस्पोषाय प्रति मुञ्चे अहं
त्वाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—(पुष्टिः-असि) तू पुष्टिरूप है (मा) मुझे (पुष्ट्या समङ्ग्धि) पुष्टि से संयुक्त कर (गृहमेधी) तू गृहमेधी—गृहपति है (मा गृहपतिं कृणु) मुझे गृहपति कर (औदुम्बरः सः-त्वम्) उदुम्बर समूह तू (अस्मासु) हमारे में (रयिं धेहि) ऐश्वर्य धारण करा (च) और (नः) हमारे लिए (सर्ववीरम्) सब पुत्रसामर्थ्य को—वीर्य को नियच्छ) दे (अहम्) मैं (रायस्पोषाय) ऐश्वर्य पोषण के लिए (त्वाम्) तुझे (प्रतिमुञ्चे) स्वीकार करता हूं ॥ १३ ॥

अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।
स नः सनिं मधुमतीं कृणोतु रयिं च
नः सर्ववीरं नियच्छात् ॥ १४ ॥

अर्थ—(अयम् औदुम्बरः-मणिः) यह उदुम्बर वृक्ष समूहरूप मणि (वीरः) वीर—वीर्यशक्तिगुणसम्पन्न है (वीराय) वीर्यशक्ति के लिए—पुत्रोत्पत्ति शक्ति प्राप्ति के लिए "पुत्रो वै वीरः" (श० ३ । ३ । १ । १२) (बध्यते) बांधा जाता है । उद्यान आदि की भांति सुरक्षित रखा जाता है (सः) वह (नः) हमारे लिए (मधुमतीं सनिम्) गुणवती उपभोग-क्रिया को (कृणोतु) करे (च) और (नः) हमारे लिए (सर्ववीरं रयिं नियच्छात्) सब पुत्र-शक्ति वाले ऐश्वर्य गुण को प्रदान करे ॥ १४ ॥

इस सूक्त में "उदुम्बरमणि" अर्थात् उदुम्बर वृक्ष-समूहरूप मणि के गुण बहुत बतलाए हैं जिनमें उससे पुष्टि का प्राप्त होना तो बार बार कहा गया है मानो यह गुण विशेष तथा अनिवार्य है इसके साथ गौ आदि पशुओं की वृद्धि अन्नैश्वर्य की समृद्धि बलप्राप्ति क्षुधारोग को दूर करना, निराशा कृपणता के भाव को हटाना और पुत्रोत्पत्ति-शक्ति का देना आदि बतलाए हैं। इसी प्रकार आयुर्वैदिक शास्त्रों में भी इसके उक्त गुण कहे हैं—

१–उदुम्बरः शीतलः स्याद् गर्भसन्धानकारकः।

२–योनिरागं नाशयति।

३–वल्कं दुग्धं तुवरं गर्भ्यम्।

४–कोमलं चास्य च फलं···स्यान्मांसवृद्धिकरं मतम्।

५–तत्पक्वं च···रक्तरुक् पस्तदाहक्षुत्तृषाश्रमप्रमेहहम्।

६–शोषमूर्च्छाहरं प्रोक्तं पूर्वैः स्वे स्वे निघण्टुके।

(नि० र०)

इन आयुर्वैदिक निघण्टु-वचनों में इसे गर्भसन्धान-कारक, योनि-रोग नाशक और इसकी छाल को गर्भबीज-कारक कहा है इससे वेद में कहे पुत्रोत्पादक और गौ आदि पशुओं की वृद्धि करने वाला बतलाना अत्यन्त उचित है तथा फल मांसवर्द्धक, प्रमेहनाशक, शोष हटाने वाला होने से वेद का पुष्टि-कारक कहना भी सुसमीचीन है। जब गौ आदि पशुओं

की वृद्धि इससे होती है तब धन अन्न ऐश्वर्य का देने वाला भी स्वयं सिद्ध हो जाता है। गौओं के अधिक होने से कृषि-द्वारा अन्न की वृद्धि भी होती है।

अभीवर्त मणि—

अथर्ववेद काण्ड १ सूक्त २६ में अभीवर्त मणि का वर्णन है। 'अभीवर्त' का अर्थ है अभिवर्तन अर्थात् आक्रमण करने का साधन। शत्रु पर जिस साधन के द्वारा आक्रमण किया जावे उसका नाम अभीवर्त है जैसा कि ताण्ड्य ब्राह्मण में कहा है "अभीवर्तेन वै देवा असुरानभ्यवर्त्तन्त" (तां० ८। २। ८) यहां सूक्त में भी इस 'अभीवर्त' का उक्त प्रयोजनार्थ वर्णन है "अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः। अभिपृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति॥" (२)। अब यह देखना है कि वह शत्रु पर आक्रमण का साधन 'अभीवर्त' मणि क्या है। कुछ थोड़े हेर फेर से यही सूक्त ऋग्वेद मण्डल १० में सूक्त १७४ है। उसकी तुलना से 'अभीवर्त' का स्वरूप जाना जा सकता है। इस सूक्त का केवल प्रथम मन्त्र यहां देते हैं जो निम्न है—

अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृते।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेभि राष्ट्राय वर्तय॥

(ऋ० १०। १७४। १)

इसकी तुलना करें अथर्ववेद के प्रस्तुत सूक्त के प्रथम मन्त्र से—

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेभि राष्ट्राय वर्धय ॥
(अथर्व० १ । २९ । १)

यहां देखें अथर्ववेद में 'अभीवर्तेन मणिना' और ऋग्वेद में 'अभीवर्तेन हविषा' पाठ है। ऋग्वेद के पाठ से इस 'अभीवर्त' मणि का निश्चय किया जा सकता है क्योंकि ऋग्वेद में दिए उसी 'अभीवर्त' का 'हविः' के स्थान में अथर्ववेद में 'मणि' विशेषण रखा है। 'अभीवर्त' अर्थात् शत्रु पर आक्रमण करने का साधन 'हविः' से तात्पर्य है गन्धक आदि खनिज तथा जङ्गम और स्थावर विष का अग्निद्वारा धूम करना–धूमवायु का फैलाना है। वही हविः-वस्तु अथर्ववेद में भी अभीष्ट है पर उसे मणि कहा है–मणिरूप में गोले के रूप में (बम के रूप में) लेना चाहिए ऐसा स्पष्ट तुलना से सिद्ध होता है। हां, इस गोले में लोहे आदि धातुओं का मिश्रण करके गोला बनाकर शत्रु पर फेंकना चाहिए। अस्तु। अब अथर्ववेद के 'अभीवर्त मणि' सम्बन्धी मन्त्रों का सक्रम अर्थ देते हैं।

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

अर्थ—(ब्रह्मणस्पते) हे पुरोहित ! (येन-अभीवर्तेन मणिना) जिस अभीवर्त मणि-शत्रु पर आक्रमण के

साधन-स्फोटक और विषले द्रव्यों लोहे आदि धातुओं से बने गोले–बम के प्रयोग से (इन्द्रः) राजा (अभिवावृधे) समृद्धि को प्राप्त होता है–आगे बढ़ता है* (तेन) उससे (राष्ट्राय) निज राष्ट्रहित के लिए (अस्मान्) हमें (अभि-वर्धय) समृद्ध कर–आगे बढ़ा ॥ १ ॥

अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

अर्थ—(सपत्नान्) शत्रुओं पर (अभिवृत्य) आक्रमण करके (याः) जो (नः) हमारी (अरातयः) अदानवृत्तिवाली--हमारा सहाय न देने वाली या ऐश्वर्य का अपहरण करने वाली शत्रु-सेनाएं हैं। उन पर (अभि) आक्रमण करके (पृतन्यन्तम्) संग्राम चाहते हुए–संग्राम करते हुए पर (अभि) आक्रमण करके (यः) जो (नः) हमारा (दुरस्यति) बुरा चाहता है। उस पर भी (अभितिष्ठ) आक्रमण कर ॥ २ ॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥३॥

अर्थ—(त्वा) हे अभीवर्त मणि शत्रुओं पर आक्रमण के साधन रूप कृत्रिम गोले ! तुझे (सविता देवः)

* "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" (अष्टा ३ । ४ । ६) सामान्य काल में लिट् ।

सूर्य या अग्नि देव "अग्निरेव सविता" गो० पू० १। ३३) (अभि-अवीवृधत्) शत्रुओं के सम्मुख बढ़ाता है फैलाता है तथा (सोमः) सोम-वायु "यो ऽयं वायुः पवते एष सोमः" (श० ७। ३। १। १) "अन्तरिक्षदेवत्यो हि सोमः" (गो० उ० २। ४) (अभि) शत्रुओं के सम्मुख बढ़ाता है फैलाता है। तथा (त्वा) तुझे (विश्वा भूतानि) समस्त तेरे अन्दर की वस्तुएं (अभि) शत्रुओं के सम्मुख फैलाती हैं (यथा) जिस प्रकार तू (अभीवर्तः) शत्रुओं पर आक्रमण का साधन (असत्सि) हो जावे ॥ ३ ॥

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥४॥

अर्थ—(अभीवर्तः-मणिः) अभीवर्त मणि शत्रुओं पर आक्रमण का साधन गोला (अभिभवः) आक्रमणकारी। तथा (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाश करने वाला है (सपत्नेभ्यः पराभुवे) शत्रुओं के पराजय-हार के लिए तथा (मह्यं राष्ट्राय) मेरे राष्ट्र के लिए या मेरे लिए राष्ट्र हो इस-लिए (बध्यताम्) बन्ध जावे-गोलरूप में तैयार हो जावे ॥४॥

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।
यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥५॥

अर्थ—(असौ सूर्यः) वह सूर्य (उदगात्) उन्नत हुआ है (इदं मामकं वचः) यह मेरा घोषणावचन (उत्)

उन्नत हुआ है (यथा) जिससे (अहम्) मैं (शत्रुहः) शत्रु-नाशक (असपत्नः) शत्रुरहित (सपत्नहा) शत्रु-घातक (असानि) होऊं ॥ ५ ॥

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥६॥

अर्थ—(सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का क्षय करने वाला (वृषा) बलवान् (अभिराष्ट्रः) राष्ट्र का अधिकर्त्ता राष्ट्रशासक (विषासहिः) शत्रु पर प्रत्याक्रमणकारी होऊं ❀ (यथा) जिससे (अहम्) मैं (एषां वीराणाम्) इन वीरों सैनिकों का (च) और (जनस्य) जनपद का-देश का + (विराजानि) ईश्वर हो जाऊं-अधिपति बन जाऊं ॥६॥

इस प्रकार अभीवर्त मणि शत्रु पर आक्रमणकारी साधनरूप गोले (बम) को तैयार करके शत्रुओं पर आक्रमण करना यह धनुर्विद्या की बात है कोई मन्त्र, जादु, गण्डा, तावीज की बात नहीं है । अस्तु ।

प्रतिसर मणि—

अथर्व वेद के काण्ड ८ सूक्त ५ में 'प्रतिसर' मणि का वर्णन है । इस सूक्त में २२ मन्त्र हैं, हम इन सबका

❀ 'असानि' क्रिया की पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति आती है ।

+ 'जनः' अधिकरणे घञन्तः प्रयोगः ।

ग्रन्थविस्तारभय से अर्थ न करेंगे तथा अर्थ भी प्रायः एक-जैसे और सरल हैं एवं आगे आने वाले मणिसम्बन्धी सभी मन्त्रों के अर्थ न करेंगे। यथामुखीन के रूप में तो खनिज आदि उत्पत्ति-स्थान के भेद से मणियों के समस्त मन्त्रों के अर्थ दे चुके ही हैं। 'प्रतिसर' का अर्थ है मण्डल घेरा अर्थात् अपनी सेना के चहुं ओर घेरा बनाना कि जिस में से प्रतिसरण अर्थात् शत्रु के कृत्यारूप आक्रमण विषैली वस्तुओं के प्रयोग को उलटा फेंकने का काम करता है। जैसे पूर्व प्रकरण में 'अभीवर्त' मणि का वर्णन था उसके द्वारा शत्रु पर आक्रमण करना, एवं इस सूक्त में 'प्रतिसर' मणि से शत्रु के विषरूप कृत्याप्रयोग के प्रभाव को अपने ऊपर न आने देना तथा पीछे लौटाना होता है। पूर्वोक्त मणि 'अभीवर्त' है तो यह 'प्रतिसर' मणि 'प्रतीवर्त' है, स्वयं इसी सूक्त के मन्त्र ४ में इस प्रतिसर' को 'प्रतीवर्त' कहा भी है।

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः।
ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः ॥४॥

मन्त्र का आशय है यह 'स्राक्त्य' दिशाओं में फैलने वाला ❀ या माला जैसे घेरे में स्थापित 'प्रतीवर्त' शत्रु

❀"दिशो ह्यस्य स्रक्त्यः" (छान्दोग्य० ३।१५।१)
मन्त्र में कहा भी है "अनेनाजयत्प्रदिशश्चतस्रः" (अथर्व० ८।५।३)

के आक्रमण का प्रतिकार करने वाला 'प्रतिसर' नाम का बड़ा ओजस्वी संग्रामों को वश करने वाला हमारी सब ओर से रक्षा करे। यह 'प्रतिसर' मणि विषनाशक उग्र ओषधियों का बनाया जाता है जैसे मन्त्र ११ में कहा है।

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव० ॥११॥

ओषधियों के मिश्रण से मणि अर्थात् गोली छोटी या बड़े गोले के रूप में बनाना वेद को अभीष्ट है अन्यत्र कहा भी है।

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोभिशस्तिपाः।

(अथर्व० ८। ७। १४)

इस 'प्रतिसर' मणि की गन्ध एवं गुणों, तथा प्रभावों को सूर्य अपनी किरणों से छोड़ता है और फैलाता है जैसा कि मन्त्र १४ में कहा है

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपत्वा समैरयत् ॥१४॥

इस 'प्रतिसर' मणि के मालाकार मण्डल में होने से सैकड़ों गोलों के संघ का नाम 'प्रतीवर्त' है जैसा कि मन्त्र १५ में इसे 'शतपर्वा' कहा है।

प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥१५॥
अयमिद्वै प्रतीवर्त ओजस्वान् संजयो मणिः ।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥१६॥

यहां यह तात्पर्य है कि हे राजन् ! शत्रु जो विषप्रयोग-क्रियाओं से मारना चाहता है उसे सैंकड़ों पर्वों-वाले इस 'प्रतिसर' मणिरूप वज्र के द्वारा प्रतिगति से पीछे लौटा कर मार। यह 'प्रतिसर' अवश्य शत्रु के आक्रमण को पीछे फेंकने वाला ओजस्वी विजय का साधन मणि है वह अपनी सेनारूप प्रजा और धन का उत्तम रक्षक है। यह 'प्रतिसर' मण्डलरूप में मणि अपने सेना-दल के सब ओर फैलाया जाता है जिससे शत्रुकृतकृत्याओं को पीछे फेंकता रहे और जिस मण्डल या घेरे में सैकड़ों ही 'प्रतिसर' मणियां लगी होती हैं, जैसे मन्त्र ५ में बतलाया है।

ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः
प्रतिसरैरजन्तु ॥ ५ ॥

वे हमारे सामने की सूर्यकिरणें या हमारे आगे हुए दिव्यप्रयोग शत्रु की विषादिकृत कृत्याओं को इन प्रतिसरों घेरे में प्रतिकार करने वाले सैंकड़ों विषनाशक औषध-गोलों के द्वारा पीछे लौटाते हैं। 'स्राक्त्य मणि' के सम्बन्ध में अथर्व वेद में अन्यत्र भी ऐसा ही सङ्केत किया है।

स्राक्त्योसि प्रतिसरोसि प्रत्यभिचरणोसि ।
शुक्रोसि भ्राजोसि स्वरसि ज्योतिरसि ।

(अथ० २ । ११ । २,४)

यहां 'प्रतिसर' मणि को दिशाओं में फैलने प्रत्याक्रमण करने वाला शुक्र (शुभ्र) भ्राज (ज्वलन्त) स्वः (तापक) ज्योतिरूप कहा है। उक्त प्रतिसर मणियों का घेरा हमारे लिए कवच बनकर काम आता है यह भी मन्त्र ७ में कहा है।

ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते ।
सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥ ७ ॥

जो मनुष्य इस 'प्रतिसर' मणि को घेरे रूप प्रतिकारक मणिमण्डल को अपना वर्म अर्थात् कवच बनाते हैं उनके द्वारा प्रयुक्त 'प्रतिसर' मणि सूर्य जैसे आकाश में आरूढ़ हो अन्धकार और दोषों को हटाता है ऐसे ही शत्रु की विषकृत्याओं को हटाता है। यह प्रकरण भी आयुर्वेद तथा विज्ञान का अनुसरण करता हुआ धनुर्विद्या-शस्त्रास्त्रविद्या का विषय है मन्त्र जादू या गण्डा ताबीज का नहीं।

दर्भ मणि—

अथर्ववेद काण्ड १९ सूक्त २८-३०, ३२, ३३ इन पांच सूक्तों में दर्भ मणि का वर्णन है, पूर्व की भांति विस्तारभय

तथा प्राय: विषय की समानता और मन्त्रों की सुगमता के कारण हम यहां भी प्रत्येक मन्त्र का अर्थ नहीं करेंगे केवल 'दर्भ मणि' पर ही विचार करेंगे कि वह क्या है। पांचों सूक्तों के मन्त्रों पर विचार करने से यहां दर्भ का अर्थ दाभ या कुशा घास नहीं है किन्तु "दृदलिभ्यां भः" (उणा० ३। १५१) से बाह्य शत्रु के लिए उपद्रवों और आन्तरिक कृमियों तथा दोषों एवं रोगों को विदीर्ण–छिन्न भिन्न करने वाला कोई वज्ररूप वस्तु है। 'राज निघण्टु' में वज्र का पर्याय दर्भ शब्द दिया है "दर्भे च कुशिके वज्रम्" (राजनिघण्टु। व० २३) अभ्रक को वज्र कहते हैं "नीलाभ्रं दर्दुरं नागः पिनाको वज्र इत्यपि" (राजनिघण्टु व० १३)। इसके अतिरिक्त हमारी इस धारणा में मन्त्रवर्णन-रूप वेद की स्वयं अन्त:साक्षी भी है हम यहां मन्त्रों के कुछ वर्णन और आयुर्वेद-निघण्टुओं में दिए अभ्रक के गुणों को तुलना के लिए प्रदर्शित करते हैं।

मन्त्रवर्णन–	आयुर्वेदवर्णन–
१–"इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे। दर्भे···(अथ० १६।२८।१) दीर्घायु के लिए इस दर्भ-मणि को तेरे बांधता हूं।	"अभ्रं कषायं मधुरं सुशीतमायु:-करं धातुविवर्धनं च (भावप्रकाश नि०) अभ्रक आयुवर्धक है।

२–"दर्भेण देवजातेन दिविष्टम्भेन शश्वदित्। (अथ० १६।३२।७) द्युलोक में स्तम्भित अर्थात् तना या लटका हुआ दर्भ।	"गगनात् स्खलितं यस्माद्गगनं च ततो मतम् [अभ्रकम्]" (भाव० प्र० नि०) गगन से स्खलित हुआ अभ्रक अभ्र बादल दिविष्टम्भ–द्युलोक में तना या लटका हुआ होता है (यह नाम की तुलना)
३–"सहस्रपर्ण उत्तिरः। दर्भो० (अथ० १६।३२।१) "पयस्वान्...स नोयं दर्भः" (अथ० १६।३३।१) सहस्र अर्थात् * बहुत पत्रों वाला दर्भ। जलवाला दर्भ।	"अभ्रकं...अब्दं व्योमघनं शुभ्रं बहुपत्रं घनाह्वकम्" (शालिग्राम नि०) 'अब्द' जल देने वाला 'बहुपत्र' बहुत पत्रों वाला (अभ्रक में बहुत पत्ते होते हैं)
४–"बाध्नमि जरसे स्वस्तये" (अथ० १६।३३।४) वृद्धावस्था तक पहुंचने के लिए दर्भ को बांधता हूं।	"द्रढ़यति वपुः" (भावप्र०नि०) शरीर को दृढ़ करता है।
५–"यत्समुद्रो अभ्यक्रन्दत्पर्जन्यो विद्युता सह। ततो	"पुरा वधाय वृत्रस्य वज्रिणा वज्रमुद्धृतम्। विस्फुलिङ्गास्त

* "सहस्रं बहुमाम" (निघ० ३।१)

हिरण्ययो विन्दुस्ततो दर्भो अजायत ॥ अथ० १६।३०।५) जो मेघरूप समुद्र बिजुली के द्वारा गर्जा तो उससे चमकदार विन्दु हुआ पुनः उससे दर्भ हुआ ।

तस्तस्माद् गगने परिसर्पिताः। ते निपेतुर्घनध्वानाः शिखरेषु महीभृताम् । तेभ्य एव समुत्पन्नं तच्चद्गिरिषु चाभ्रकम् ॥ तद् वज्रं वज्रपातत्वाद् अभ्रमभ्ररवोद्भवात् । गगनात्स्खलितं यस्माद् गगनं च ततो मतम् ॥"

(भावप्रकाश नि०)

इन्द्र अर्थात् बिजुली ने पूर्वकाल में घृत्रवध के लिए वज्र को उठाया ऊपर फेंका उससे चिनगारियां मेघ गर्जना करती हुई पर्वतों के शिखरों पर गिरीं इन चिनगारियों से पर्वतों पर अभ्रक उत्पन्न हुआ । वह वज्र है वज्रपात के कारण, वह अभ्रक है अभ्र गर्जना से उत्पन्न होने के कारण, वह गगन है गगन से गिरने के कारण ।

—"प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च। यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते ॥"
(अथ० १६।३२।८)

हे दर्भ! तू मुझे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए प्रिय बना जिस किसी के लिए हम कामना करते हैं उस सबके विशेष देखने दिखाने वाले के लिए भी।

"विप्रक्षत्रियविट्शूद्रभेदात्तस्माच्चतुर्विधः। क्रमेणैव सितं रक्तं पीतं कृष्णं च वर्णतः।"
(भावप्रकाश निघं०)

अभ्रक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र संज्ञक हैं जो क्रमशः सफेद, लाल, पीला और काला होता है।

इस प्रकार तुलना से यह स्पष्ट हो रहा है कि यहां सूक्तों में कहा दर्भ अभ्रक है। अब इस अभ्रक का उपयोग मन्त्रों में दो प्रकार से वर्णन किया है एक तो शरीर पर उसका वर्म (आवरणकारक कवच) जैसा कि कहा है।

यत्ते दर्भ जरामृत्युः शतं वर्मसु वर्म ते।
तेनेमं वर्मिणं कृत्वा सपत्नां जहि वीर्यैः ॥
(अथ० १६।३०।१)

दर्भ अर्थात् हे अभ्रक! समस्त वर्मों-आवरण-कवचों में तेरा वर्म-आवरण कवच 'जरामृत्युशतम्' *जरा और

* 'जरामृत्युशतम्' इति सायणः।

मृत्यु का नाशक है उससे तू इस राजा को (वर्मिणम्) वर्म वाला आवरण-कवचवाला बनाकर अपने गुण-बलों से शत्रु को नष्ट कर। 'अभ्रक' का वर्म (आवरण कवच) बनाया जाता है यह कहा है। अब लीजिए किस अङ्ग के लिए यह वर्म बनाना आवश्यक है वह भी दिया है।

नास्य केशान् प्रवपन्ति नोरसि ताडमाघ्नते।
यस्मा अच्छिन्नपर्णेन दर्भेण शर्म यच्छति॥
(अथर्व० १६। ३२। २)

इसका आशय है पुरोहित अच्छिन्नपर्ण अर्थात् जिसके पत्ते शस्त्र से नहीं कटते हैं ऐसे उस दर्भ–अभ्रक के द्वारा जिस राजा के लिए सुख चाहता है उसके 'केशान् न प्रवपन्ति' शत्रुजन केशों सिर के बालों को नहीं उखाड़ सकते ❀ नहीं बिगाड़ सकते और 'न उरसि ताडमाघ्नते' न छाती पर वार का आघात कर सकते हैं। इस प्रकार सिर और छाती की रक्षा अभ्रक के वर्म (आवरण कवच जरोबखतर) के द्वारा करने का विधान है। अभ्रक का सिर के लिए शिरोवेष्टन टोपी टोप और छाती के उरोवेष्टन या वक्षोवेष्टन (जरोबखतर) बनाना चाहिए क्योंकि अभ्रक पर तलवार आदि शस्त्र से काट नहीं होती बल्कि शस्त्र कुण्ठित हो जाता है।

❀ "वप मुण्डतन्तुत्रीजोप्त्योः" (कविकल्पद्रुमः) वपति मस्तकं नापितः। "शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम्" (मनु:० ५। १४०)

अभ्रक का उपयोग धनुर्विद्या की दृष्टि से भी है यहां अथर्ववेद में इसकी चर्चा की है।

दर्भेण त्वं कृणवद् वीर्याणि दर्भं बिभ्रदात्मना मा व्यथिष्ठाः।
(अथर्व० १९ । ३३ । ५)

.........सपत्नान् जहि वीर्यैः।
(अथर्व० १९ । ३० । १)

दर्भ–अभ्रक के द्वारा शत्रुओं को मारने के लिए वर्णन किया है। संग्राम के जहाजों में कांच के स्थान पर अभ्रक लगाते हैं क्योंकि कांच तो गोला-बारूद के धमाके से टूट जाता है किन्तु अभ्रक नहीं टूटता। यह कहा जाता है कि अभ्रक पर विद्युत् का प्रभाव नहीं पड़ता संग्राम में विद्युत् के अस्त्रों का वार रोकने में भी काम होता है। स्वयं भी वज्र नाम होने से अस्त्र के मसाले में पड़ने से आघातकारी हो सकता है और शत्रुदल को मार सकता है जैसा कि 'भावप्रकाश निघण्टु' में लिखा है "दर्दुरं त्वग्निनिक्षिप्तं कुरुते दुर्दुरध्वनिम्। गोलकान् बहुशः कृत्वा स स्यान्मृत्युप्रदायकः" (भावप्रकाश नि०) अर्थात् दर्दुर जाति का अभ्रक अग्नि में डालने से गड़गड़ाहट ध्वनि करता है और बहुत गोले बना कर मार सकता है। इस कथन से अभ्रक को अस्त्र (बम) आदि में डाला जा सकना भी सम्भव है। इस प्रकार दर्भ नाम से कहा इतना गुणकारी और प्रभावकारी पदार्थ यहां अभ्रक ही है। इसी के वर्म आवरण कवच और अश्ममणि के रूप में यहां है॥ अस्तु॥

वरण मणि—

अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त ३ में 'वरण मणि' का वर्णन है और उसके २५ मन्त्र हैं यहां भी प्रत्येक मन्त्र का अर्थ पूर्व की भांति विस्तारभय आदि कारणों से नहीं करेंगे, हां 'वरण' मणि पर विचार अवश्य करना है। मन्त्र ११ में इसे वनस्पति कहा है तथा छाती पर धारण करने को बतलाया है।

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः ॥११॥

इस मन्त्र से दो बातें प्रकट होती हैं एक तो यह कि 'वरण' मणि वनस्पति है और दूसरे इसे छाती पर धारण करने से हृदय की रक्षा करता है तथा हृदय-रोग को दूर करने के लिए और कभी संग्राम आदि जैसे विकट अवसर पर हृदय घबराए नहीं इसलिए इसे भी अभ्रक की भांति आवरक (जरोबख्तर कवच) के रूप में धारण करना चाहिए। छाती पर धारण करने से रात्रि में सोते हुए स्वप्नभयों से भी बचा सकेगा ऐसा भी सङ्केत सूक्त में है।

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम्। परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते ॥६॥

स्वप्न सोकर–नींद लेकर नींद में यदि तू कोई बुरा स्वप्न देखे कि सिंह आदि भयङ्कर जंगली पशु अयोग्य रीति से तुझ पर आक्रमण करता है तो उससे तथा बुरी डरावनी बोली वाले पक्षी के डराने झपटने से यह 'वरण' मणि तुझे बचावेगा। 'वरण' वनस्पति आयुर्वैदिक 'वरुण' और 'वरण' नाम का एक वृक्ष है जिसे लोकभाषा में 'बरना' कहते हैं। 'वरण' वनस्पति के गुण आयुर्वैदिक ग्रन्थों में कहे जैसे ही बतलाए हैं—

वरुणो वरणः सेतुस्तिक्तशाकः कुमारकः।

(भावप्रकाश निघण्टु)

वरुणो···कृमीन् रक्तदोषं शीर्षवातं मूत्राघातं च हृद्रुजम्। हृद्रोगं नाशयत्येव। (नि० र०)

इन वचनों में स्पष्ट ही 'वरण' को हृद्रोग और हृदयशूल को हटाने वाला कहा है। तथा 'शीर्षवात' सिर की वात को नष्ट करता है इससे भी यह सिद्ध होता है कि स्वप्न में भय आदि से भी 'वरण' रक्षा करता है कारण कि स्वप्न का आना, नींद का ठीक न आना या स्वप्न में भय आदि का लगना सिर में वातप्रकोप से होता है उसे 'वरण' बरना नष्ट कर देता है। 'वरण' कृमिनाशक भी है और अनेक रोगों को भी नष्ट करता है यहां वेद ने भी इसका उपयोग विशेषतः रोग दूर करने में बतलाया है।

वरुणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ ५ ॥

यह 'वरण' बरना वनस्पति रोग को हटा देता है जो यक्ष्म रोग इस मनुष्य के अन्दर प्रविष्ट हुआ है उसको देव विद्वान् इसके द्वारा हटाते हैं। मन्त्र में 'वरण मणि' वरने का छाती पर धारण करना कहा है। हृदय-रोग छाती में शूल और सोते हुए हृदय में भय न हो इसके लिए 'वरण' बरना के नव पल्लवों कोंपलों का स्वरस या कल्क का वस्त्र आदि पर आलेप (पालिश) करके उरोवस्त्र पहनना तथा औषधरूप में गुटिका गोली बनाकर सेवन करना भी उचित है। औषधरूप इसकी जड़ की या जड़ की छाल की गोली बनाकर सेवन करना भी उपयोगी हो सकता है। अस्तु।

फाल मणि--

अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त ६ में 'फाल मणि' का वर्णन है। सूक्त में मन्त्र ३५ हैं यहां पर भी पूर्व की भांति विस्तारभय आदि के कारण प्रत्येक मन्त्र के अर्थ न करेंगे। प्रत्युत कुछ मन्त्रों द्वारा 'फाल' मणि क्या है यही विचार करेंगे। इस सूक्त का यह फाल मणि न तो आयुर्वैदिक दृष्टि से और न संग्राम की दृष्टि से कोई शरीर पर धारण करने वाली

स्वप्न सोकर-नींद लेकर नींद में यदि तू कोई बुरा स्वप्न देखे कि सिंह आदि भयङ्कर जंगली पशु अयोग्य रीति से तुझ पर आक्रमण करता है तो उससे तथा बुरी डरावनी बोली वाले पक्षी के डराने झपटने से यह 'वरण' मणि तुझे बचावेगा। 'वरण' वनस्पति आयुर्वैदिक 'वरुण' और 'वरण' नाम का एक वृक्ष है जिसे लोकभाषा में 'बरना' कहते हैं। 'वरण' वनस्पति के गुण आयुर्वैदिक ग्रन्थों में कहे जैसे ही बतलाए हैं—

वरुणो वरणः सेतुस्तिक्तशाकः कुमारकः।

(भावप्रकाश निघण्टु)

वरुणो…कृमीन् रक्तदोषं शीर्षवातं मूत्राघातं च हृद्रुजम्। हृद्रोगं नाशयत्येव। (नि० र०)

इन वचनों में स्पष्ट ही 'वरण' को हृद्रोग और हृदयशूल को हटाने वाला कहा है। तथा 'शीर्षवात' सिर की वात को नष्ट करता है इससे भी यह सिद्ध होता है कि स्वप्न में भय आदि से भी 'वरण' रक्षा करता है कारण कि स्वप्न का आना, नींद का ठीक न आना या स्वप्न में भय आदि का लगना सिर में वातप्रकोप से होता है उसे 'वरण' बरना नष्ट कर देता है। 'वरण' कृमिनाशक भी है और अनेक रोगों को भी नष्ट करता है यहां वेद ने भी इसका उपयोग विशेषतः रोग दूर करने में बतलाया है।

वरुणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ ५ ॥

यह 'वरण' बरना वनस्पति रोग को हटा देता है जो यक्ष्म रोग इस मनुष्य के अन्दर प्रविष्ट हुआ है उसको देव विद्वान् इसके द्वारा हटाते हैं। मन्त्र में 'वरण मणि' वरने का छाती पर धारण करना कहा है। हृदय-रोग छाती में शूल और सोते हुए हृदय में भय न हो इसके लिए 'वरण' बरना के नव पल्लवों कोंपलों का स्वरस या कल्क का वस्त्र आदि पर आलेप (पालिश) करके उरोवस्त्र पहनना तथा औषधरूप में गुटिका गोली बनाकर सेवन करना भी उचित है। औषधरूप इसकी जड़ की या जड़ की छाल की गोली बनाकर सेवन करना भी उपयोगी हो सकता है। अस्तु।

फाल मणि--

अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त ६ में 'फाल मणि' का वर्णन है। सूक्त में मन्त्र ३५ हैं यहां पर भी पूर्व की भांति विस्तारभय आदि के कारण प्रत्येक मन्त्र के अर्थ न करेंगे। प्रत्युत कुछ मन्त्रों द्वारा 'फाल' मणि क्या है यही विचार करेंगे। इस सूक्त का यह फाल मणि न तो आयुर्वैदिक दृष्टि से और न संग्राम की दृष्टि से कोई शरीर पर धारण करने वाली

वस्तु है किन्तु इससे भिन्न है। इस 'फाल' मणि को समझने के लिए प्रथम एक ऐसे मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं जिसमें ऐसी ही भिन्न मणि का वर्णन है। मन्त्र यह है—

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः। इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥

(अथर्व० ६ । ३० । १)

अर्थ — (देवाः-मधुना संयुतम्-इमं यवम्) देवों ने मधुरगुण से युक्त इस यव–जौ अन्न को (सरस्वत्याम्-अधि मणौ-अचर्कृषुः) नदी* के तटरूप भूमिभाग में बोय (शतक्रतुः-इन्द्रः सीरपतिः-आसीत्) असंख्य-क्रिया-शक्ति-वाला इन्द्र हलपति था (सुदानवः-मरुतः कीनाशाः-आसन्) उत्तम दानशील मरुत किसान थे।

इस मन्त्र में कृषि का प्रकरण है और वह नदी के 'मणि' पर। यहां मणि का अर्थ नदी का तटरूप भूमिभाग है यह निःसन्देह है। लोक में नदी की मण कूंए की मण शब्द तटरूप भूमिभाग के लिए प्रयुक्त होते भी हैं यहां लोकभाषा में मणि की ह्रस्व मात्रा 'इ' का उच्चारण नहीं होता या लोप हो गया है जैसे "विधि" का विध, "रीति" का रीत, "प्रीति का

* "सरस्वती नदीनामसु" (निघ० १ । १३)

प्रीत। उक्त मन्त्र से मणि शब्द विशेष भूमिभाग के अर्थ में जैसे प्रयुक्त होता है ऐसे ही अर्थ में अथर्व० का० १० सूक्त ६ का 'फाल' मणि भी है। यह बात पाठक निम्न मन्त्रों द्वारा देखें।

वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति।
पूर्णो मन्थेन मागमद्रसेन सह वर्चसा ॥२॥

अर्थ—(अयं मणिः फालात्-जातः) यह मणि हल में लगे हुए भूमि में घुसने वाले लोहे के फाल से प्रकट हुआ या उत्पन्न हुआ (मह्यं वर्म करिष्यति) मेरे लिए-मेरे जीवन के लिए 'वर्म' प्राणों का आवरण रक्षण करने के साधन-रूप यव आदि अन्न को उत्पन्न करेगा (मन्थेन पूर्णः) मन्थन से पूर्ण—फालमन्थन हल-जोतने से पूर्ण—पूर्ण जोता हुआ (रसेन वर्चसा सह मा-आगमत्) रसभरे अन्न के साथ या हरे शाक फल तथा तेजोरूप खाद्य यवादि अन्न के साथ मुझे प्राप्त हो। "रसोऽन्ननाम" (निघं० २।७) "वर्चोऽन्ननाम" (निघं० २।७)।

मन्त्र के इस वर्णन से कि 'फालात् जातः' फाल से प्रकट या उत्पन्न और मन्थन तथा अन्न आदि से पूर्ण यह मणि है जिसका नाम 'फालमणि' आगे मन्त्रों में दिया है। प्रथम तो 'फाल' से जात होने—प्रकट होने से यह 'फाल'

मणि है यहां तद्धित प्रत्यय का छान्दस लुप् (लोप) है। दूसरे यह अन्नों से भरा जोता हुआ फाल से प्रकट हुआ पदार्थ क्या हो सकता है वह ऐसा 'फालमणि' यहां क्यारियों से उत्पन्न हराभरा क्षेत्र–खेत ही है यही निःसन्देह उत्तर मिलेगा, और देखिये अगला मन्त्र।

यत्त्वा शिक्वः परावधीत्तक्षा हस्तेन वास्या।
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम् ॥३॥

अर्थ—(शिक्वः-हस्तेन तक्षा वास्या त्वा यत् परावधीत्) हे हरे-भरे खेत रूप मणि! अव्यक्त बोली वाला बन्दर आदि प्राणी हाथ से या छेदन करने वाला मनुष्य क्रान्ति, कुठार आदि से तुझे नष्ट करता है–बिगाड़ता है (तस्मात्) तो (जीवलाः शुचयः-आपः) जीवन देने वाले शुद्ध जल (त्वा शुचिं पुनन्तु) तुझे फिर शुद्ध वैसे ही रूप में पवित्र करें–पूर्ण करें॥

इस मन्त्र में 'फालमणि' हरे भरे खड़े खेत को प्राणियों और मनुष्यों के द्वारा नष्ट होने की सम्भावना बतलाई और जलों से सींचने द्वारा ठीक होने बढ़ाने की सूचना दी है इससे तो 'फालमणि' हरा भरा खेत ही है, इस विषय की स्पष्ट पुष्टि है, और लीजिए।

ऋतवस्तमबध्नतार्तवस्तमबध्नत।
संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं विरक्षति ॥१८॥

अर्थ—(ऋतवः-तम्-अबध्नत) उस खेतरूप फाल मणि को ऋतुएं बांधती हैं–सम्भालती हैं (आर्तवाः-तम्-अबध्नत) ऋतुओं में होने वाले मास उसे बांधते हैं--सम्भालते हैं (संवत्सरः-त बद्धूवा सर्वं भूतं विरक्षति) संवत्सर--वर्ष उसे बांध कर सम्भालकर समस्त प्राणीमात्र की रक्षा करता है।

मन्त्र के इस वर्णन में 'फालमणि' हरा भरा खेत-रूप भूमिभाग ही है क्योंकि महीने ऋतुएं और संवत्सर उसे सम्भालते हैं और वह प्राणियों की जीवनरक्षा का साधन है।

स मायं मणिरागमत्सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह ॥ २४ ॥

(सः-अयं मणिः-व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह) वह यह मणि चांवल-यव अन्नों के साथ महती विभूति ऐश्वर्यता के साथ (मा-आगमत्) मुझे प्राप्त हो ॥ पुनः—

यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा ॥३२॥

(देवाः पितरः-मनुष्याः-यं सर्वदा-उपजीवन्ति) देव पितर और मनुष्य सर्वदा जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं।

इस कथन में भी जीवन का आधार 'फालमणि' हरा भरा खेत रूप भूमि सिद्ध होती है। अब लीजिए विशेष वचन—

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति ।
एवा मयि प्रजा पशवोन्नमन्नं विरोहतु ॥३३॥

(यथा फालेन कृष्टे) जैसे ही फाल से–हलके फाल से जोत देने पर (उर्वरायां बीजं रोहति) उपजाऊ भूमि में बीज उग सके बढ़ सके (एवा) ऐसे (मयि) मेरे निमित्त इस 'फाल' से प्रकट खेतरूप 'फाल' मणि द्वारा * (प्रजा) सन्तति (पशवः) गौ आदि पशु (अन्नम्-अन्नम्) अन्न-अन्न, अन्न पर अन्न अधिकाधिक अन्न (विरोहतु) उत्पन्न हो सके-बढ़ सके ॥

यह कथन 'फाल' मणि खेतरूप भूमि भाग है इसके लिये निर्णय-सदृश वचन है। 'फालमणि' भूमिभाग है इसका अन्तिम निर्णय भी लीजिए।

तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः ॥१२॥

(तेन मणिना) हल की फाल से प्रकट होने योग्य खेत भूमिभागरूप उस फाल मणि से (अश्विनौ-इमां कृषिम्-अभिरक्षतः) अश्विनौ इस कृषि–बीज बोना उत्पन्न करना काटनारूप खेती को सम्भालते हैं।

इस प्रकार इस सूक्त में हल में लगे 'फाल' से प्रकट हुए 'फालमणि' (खेतरूप भूमिभाग) का रहस्य खुल

* "अयं मणिः फालाज्जातः" (२)

जाता है वास्तव में देखा जावे तो खेतरूप भूमिभाग एक महत्वपूर्ण मणि है—बहुमूल्य वस्तु है इसके विना जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता है इसका रहना और बांधना अत्यावश्यक है। खेत-रूप भूमि-भाग नाम की फालमणि को खदिर-खैर कीकर आदि*कण्टीले झाड़ झंकाड़ों से सब ओर उसकी सीमाओं पर बाढ़ बांधना ही इस क्षेत-रूप 'फाल मणि' का बांधना है। यह 'फालमणिबन्धन' कोई मन्त्र, जादू, गण्डा, तावीज की बात नहीं किन्तु कृषिविद्या का विषय है।

अथर्ववेद के इन मन्त्रों में 'मणि' नाम देकर कही हुई सब मणियों पर हमने इस ग्रन्थ में विचार किया है पाठकों ने देखा होगा कि वेद का मणिबन्धन साम्प्रदायिक विषय या मिथ्या-कल्पित तान्त्रिक मन्त्र यन्त्र तन्त्र या नक्श गण्डा तावीज जादू का विषय नहीं है किन्तु वैज्ञानिक, आयुर्वैदिक, धनुर्विद्या शस्त्रास्त्रविद्या और कृषिविद्या से सम्बन्ध रखने वाला कितना महत्वपूर्ण विषय है। अस्तु। अब इसके आगे 'कृत्या-अभिचार' विषय पर विचार करते हैं।

---

* "यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।"
(अथ० । १० । ६ । ६)

षष्ठ पटल

कृत्या-अभिचार

अथर्ववेद में बहुत से स्थलों पर 'कृत्या और अभिचार' के प्रयोगों को शत्रु एवं शत्रु-सेना पर फेंकने और प्रेरित करने के लिये कहीं पर अलग अलग और कहीं पर दोनों का एक साथ भी वर्णन आता है। 'कृत्या' से तात्पर्य हिंसकक्रिया है जो कि शत्रु-सेना के घात के लिये प्रयुक्त की जाती है। यह इसका शाब्दिक साधारण स्वरूप है क्योंकि "कृञ् हिंसायाम्" (स्वादि०) से 'कृत्या' शब्द बना है, एवं अभिचार का आशय उस प्रयोग से है जो कि शत्रु के शरीर में प्रविष्ट हो उसे व्याधित तथा पीड़ित कर

मार डालने में समर्थ हो। यह इसका शाब्दिक साधारण स्वरूप है क्योंकि "चर भक्षणे" (भ्वादि०) से अभिपूर्वक 'अभिचार' शब्द बना है जो शत्रु के शरीर पर आक्रमण कर या अन्दर प्रविष्ट हो उसे खा जाता है। अस्तु। अब इन दोनों का अलग अलग विशेष स्वरूप और वर्णन करते हैं।

कृत्या विचार—

कृत्या के सम्बन्ध में अथर्व वेद में अनेक स्थल हैं जिनमें कि कृत्या का स्वरूप, कृत्या का कार्य, कृत्या की संख्याएं या भेद, कृत्या के आधार, कृत्या के पात्र, पर-कृत्या का अवरोध-प्रतिकार आदि वर्णन हैं। हम यहां इन सभी पर विचार करेंगे और साथ साथ मन्त्रार्थ तथा कचित् कचित् समस्त सूक्त के अर्थ भी देंगे परन्तु विस्तारभय से सुगम मन्त्रों और सूक्तों के अर्थ न करेंगे। अस्तु।

कृत्या का सामान्य स्वरूप—

कृत्या के सम्बन्ध में लोगों के अन्दर एक भ्रम फैला हुआ है। जनसाधारण 'कृत्या' को मन्त्र अर्थात् मूठ जादू टोना समझते हैं, यह भ्रम अर्वाचीन तान्त्रिक लोगों ने फैलाया हुआ है परन्तु प्राचीन तन्त्रग्रन्थों में यह बात नहीं है वहां मन्त्र से तात्पर्य किसी गुप्त अस्त्र-शस्त्र से है जो शत्रु-सेना का घात कर सके।

मन्त्रों का वर्णन करते हुए "उड्डीश तन्त्र" ग्रन्थ में लिखा है कि "मुसलं क्षोभणे बन्धे शृङ्खला'''नाराचः सैन्यभेदने (उड्डीशतन्त्र । ४४-४६) यहां देखिये 'नाराच' यह एक अस्त्र है इसे मन्त्र नाम से कहा है। और लीजिए "विश्वमूर्तिः स्फुलिङ्गिन्यसौ धूमवर्णा मनोजवा। लोहिताख्या करालाख्या काली तामस्य ईरिताः। एताः सप्त युञ्जन्ति क्रूरकर्मसु मन्त्रिणः।" (उड्डीश तन्त्र १४०) इस वचन में अग्नि की सात ज्वालाओं का वर्णन है जैसे मुण्डकोपनिषद् में आया है "काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥" (मुण्डको० १।२।४) यहां तुलना करें वे ही मुण्डकोपनिषद्-वाली अग्नि की सात ज्वालाएं तन्त्र-वचन में भी हैं केवल क्रम उलटा है। उक्त तन्त्र-वचन में शत्रुसेना-नाश के लिए कृत्या-प्रयोग का वर्णन है यहां तीन वचन विशेष ध्यान देने योग्य हैं 'एताः सप्त युञ्जन्ति' 'क्रूरकर्मसु' 'मन्त्रिणः' मन्त्रीजन क्रूर कर्मों में अर्थात् शत्रु-सेना-नाश के कार्यों में इन सात ज्वालाओं को काम में लाते हैं। अग्नि की ज्वालाओं द्वारा क्रूर हिंसा कृत्यारूप हिंसा कार्य करने वाले को 'मन्त्री' कहा है। इसलिए मन्त्र का अर्थ अग्निज्वालाओं के द्वारा अग्नि में वनस्पति सम्बन्धी तथा खनिज विष डाल कर उनकी रंग-बिरंगी ज्वालाओं को उत्तेजित कर शत्रु-सेना के लिए हिंसाप्रयोग करना मन्त्र है। अब आगे चलिए 'कृत्या' के सम्बन्ध में लिखा है कि "पुरोहितपुरुषाः कृत्याभिचारं ब्रूयुः" (कौटिल्यार्थ शास्त्र।

प्रकरण १५०-१५२) पुरोहित पुरुष वैज्ञानिक विद्वान् राजा को संग्राम के लिए कृत्या-अभिचार की सम्मति दें उनका सम्पादन करें। जैसा कि अथर्व वेद में भी पुरोहितों द्वारा कृत्याओं के प्रतिकार-सम्पादन का स्पष्ट वर्णन है "ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु।" (अथर्व० ८। ५। ५) अब शत्रुकृत कृत्याओं का स्वपक्ष-रक्षा के लिए प्रतिकार और शत्रुसेनाओं में विष-धूम आदि रूप कृत्याओं का प्रयोग करना भी 'कौटिल्यार्थ-शास्त्र' में दिया है। "एतैः कृत्याप्रतीकारं स्वसैन्यानामथात्मनः। अमित्रेषु प्रयुञ्जीत विषधूमाम्बुदूषणान्॥" (कौटिल्यार्थ शास्त्र। प्रकरण १७६) इस कौटिल्यार्थ शास्त्र के वचन में पूर्व कही हुई मणियों का 'एतैः' पद से सङ्केत कर उनके द्वारा शत्रु की विषप्रयोगरूप कृत्याओं का प्रतिकार करना लिखा है क्योंकि उक्त मणियां विषनाशक हैं जैसा कि इस मणि-प्रकरण के प्रारम्भिक वचन से स्पष्ट होता है कि "स्वपक्षे परप्रयुक्तानां दूषिविषगराणां प्रतीकारे......स्त्रीणां सेनायाश्च प्रतीकारः" (कौटिल्यार्थ० प्रकरण १७६)। तथा "जीवन्तीश्वेतामुष्ककपुष्पवन्दाकानामक्षीवे जातस्य अश्वत्थस्य मणिः सर्वविषहरः॥" (कौ० शास्त्र प्रकरण १७६) यहां अतिस्पष्ट ही है शत्रुप्रयुक्त समस्त विषक्रियाओं को मणियां नष्ट करती हैं। यही सिद्धान्त अथर्ववेद के मन्त्रों में है।

कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥

(अथर्व १६। ३४। ४)

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥

(अथर्व २ । ४ । ६)

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः । प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥

(अथर्व ८ । ५ । २)

मणियां विषनाशक ओषधियों की होती हैं और ओषधियां भी विषनाशक होने से कृत्याओं की नाशक हैं यह भी अथर्व वेद के मन्त्र से प्रमाणित है—

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता
इहायन्त्वोषधीः ॥

(अथर्व ८ । ७ । १०)

यहां स्पष्ट विशनाशक ओषधियों को कृत्यानाशक कहा है। अस्तु । अब इतने वर्णन से सिद्ध हुआ कि शत्रुसेना का घात करने के लिए अग्निज्वालाओं में किन्हीं विषैले वानस्पत्य और खनिज पदार्थों के प्रयोग का नाम कृत्या है । "शब्द-कल्पद्रुम" में दिए कृत्यासम्बधी एक वचन से भी ऐसा ही लक्षित होता है "कृत्यामुत्पादयामासुर्ज्वालामालोज्ज्वलाकृतिम्" अस्तु ।

इस प्रकार कृत्या का उपर्युक्त सप्रमाण विवेचन करने के अनन्तर अब अथर्व वेद में दिया हुआ स्वरूप, आधार, उपयोग, प्रयोग आदि का वर्णन क्रमशः करते हैं।

कृत्या का विशेष स्वरूप—

पूर्व कथन में ऐसा बतलाया जा चुका है कि अग्नि-ज्वालाओं में वानस्पत्य और खनिज विष के प्रयोगद्वारा शत्रु सेना का घात करना कृत्या है। अत्र इसी जैसा और इससे भी स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद का देखिए।

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति॥

(अथर्व० ४। १८। ३)

अर्थ—(यः पाप्मानम् -अमा कृत्वा) जो हिंसारूप प्रयोग को गुप्तस्थान में तैयार करके (तेन-अन्यं जिघांसति) उस हिंसाकारी प्रयोग से अन्य का घात करना चाहता है (तस्यां दग्धायाम्) उस जली हुई कृत्या में* (बहुलाः-अश्मानः फट् करिक्रति) बहुत प्रकार के मनशिल पोटाश आदि पाषाण 'फट्' ऐसा शब्द पुनः पुनः या अत्यन्त करते हैं।

इस मन्त्र से स्पष्ट हुआ कि 'कृत्या' के अन्दर फट्-फट् करने वाले पटखने वाले पाषाण भी होते हैं अर्थात्

* "यो देवाः कृत्यां कृत्वा०" (२) इस पूर्व मन्त्र में 'कृत्या' का वर्णन है उसका विशेषण यहां यह 'तस्यां दग्धायाम्' है।

वानस्पत्य तथा खनिज विषों के साथ मनशिल पोटाश आदि पटखने चटखने और अग्निज्वालक पदार्थों का बना आघात-कारी प्रयोग 'कृत्या' है जैसा कि बम होता है।

तथा—

असद् भूम्याः समभवत् तद् द्यामेति महद् व्यचः ।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥

(अथर्व० ४।१९।६)

अर्थ—(असत्) अविद्यमान गुप्त या तुच्छ अथवा दुष्टकर्म कृत्यारूप (भूम्याः समभवत्) भूमि से प्रकट हुआ पृथिवी पर प्रकट किया हुआ (तत्) वह (महत्-व्यचः) बड़ा फैला हुआ हो (द्याम्) द्युलोक अर्थात आकाश को (एति) प्राप्त होता है (ततः) फिर (वै) निश्चय (विधूपायत्) मनुष्यों को सन्ताप देता है—घात करता है (तत्) वह ऐसा कृत्याकर्म (कर्तारम्) कर्ता को (प्रत्यक्-ऋच्छतु) पीछे लौटे कर्ता का ही घात करे।

कृत्या पृथिवी के पदार्थों से बनी हुई गुप्तरूप में अल्पाकार होती है परन्तु प्रयोग द्वारा आकाश में फैलकर बड़ारूप धारण कर लेती है पुनः मनुष्यों का घात करती है। इस वर्णन से कृत्या एक विषैला वायव्य (गैसरूप) घातक प्रयोग है यह सिद्ध होता है।

उपर्युक्त इन दोनों मन्त्रों से दो प्रकार की कृत्याओं की सूचना मिलती है। एक कृत्या स्फोटक पदार्थों से बनी हुई ठोस भारी। दूसरी फैलने वाली वायव्यरूप (गैसरूप) को धारण करने वाली है। दोनों कृत्याएं हिंसाकारी हैं प्रथमकृत्या स्फोटक पदार्थों-वाली विशेषतः तोड़ फोड़ के लिये उपयुक्त होती है जो मकानों स्थानों को तोड़ती फोड़ती हुई प्राणियों का भी घात करती है। दूसरी केवल वायु और आकाश में फैलकर मनुष्य आदि प्राणियों का घात करती है। ऐसे ये दो प्रकार की कृत्याएं हुईं। अन्यत्र वेद में स्पष्ट रूप से कृत्याओं के दो प्रकारों का वर्णन है। वह भी देखिये—

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः
कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः।
उभयीस्ताः परायन्तु परावतो नवतिं नाव्या अति ॥
(अथर्व० ८।५।६)

अर्थ—(याः) जो (आङ्गिरसीः कृत्याः) अग्नि से या अग्निज्वालाओं को छोड़ती हुई कृत्याएं हैं "अङ्गिरा उ ह्यग्निः" (श० १।४।१।२५) "अङ्गिरा वा अग्निः" (श० ६।४।४।४) और दूसरी (याः) जो (आसुरीः कृत्याः) केवल प्राणों में रमण करने-प्राणों में आघात पहुंचाने वाली माया-मयी गुप्त वायव्यरूप (गैस रूप) में फैलने वाली कृत्याएं हैं

"मायेत्यसुरा उपासते" (श० १०।५।२।२०) "आसुरी माया स्वधया कृतासीति प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया स्वधया कृता" (श० ६।६।२।६) (याः कृत्याः) जो ये दोनों कृत्याएं (स्वयंकृताः) शत्रु-सेना के घातार्थ अपनी की हुई हों (याः-उ च) और जो भी ये दोनों कृत्याएं (अन्येभिः) दूसरों ने। शत्रुओं ने हमारे घातार्थ (आभृताः) सम्पादन की हैं (ताः-उभयीः) वे दोनों प्रकार की कृत्याएं (नवतिं नाव्याः-अति) नव्वे पूर्ण भरी नदियों को अतिक्रमण करके (परावतः) दूर (परायन्तु) चली जावें।

इन दो प्रकार की कृत्याओं में पहली कृत्या जो "आङ्गिरसी" अग्नि या अग्निज्वलाओं की उत्पादक अग्नि-चूर्ण द्रव्यों से बनती है। अग्नि-चूर्ण में अग्निप्रदीप्त करने वाले स्फोटक पदार्थ होते हैं इसके सम्बन्ध में शुक्रनीति में अग्नि-चूर्ण की वस्तुएं बतलाई हैं—

अङ्गारस्य गन्धस्य सुवर्चिलवणस्य च।
शिलाया हरितालस्य तथा सीसमलस्य च।
हिंगुलस्य तथा कान्तरजसः कर्पूरस्य च।
जतोर्नील्याश्च सरलनिर्यासस्य तथैव च॥
समन्यूनाधिकैरंशैरग्निचूर्णान्यनेकशः॥

(शुक्र० अ० ४। प्र० ७। २० ६—२०८)

यहां गन्धक, शोरा, मनशिल, पोटाश, हरिताल, सीसे का मल, सिङ्गरफ, फौलाद का चूरा, कपूर या खपरिया,

लाख, नील, राल या बेरजा आदि द्रव्यों का अग्निचूर्ण बनाया जाता है। इस ऐसे अग्निचूर्ण में आवश्यकतानुसार लोहे के टुकड़े गोले आदि आघातकारी पदार्थ डाले जाते हैं यही आङ्गिरसी कृत्या है। दूसरी 'आसुरी' कृत्या जो केवल प्राणघातक है वह स्थावर-जङ्गम-विषों के योग से बनाकर वायव्य (गैस) धूम के रूप में छोड़ी जाती है इसके सम्बन्ध में 'कौटिल्यार्थ शास्त्र' में अनेक योग दिये गए हैं जैसे—

> चित्रभेककौण्डिन्यककृकणपञ्चकुष्ठशतपदीचूर्ण-
> मुच्चिदिङ्गकम्बलीशतकन्देध्मकृकलासचूर्णं गृह-
> गोलिकान्धाहिककृकणपूतिकीटगोमारिकाचूर्णं
> भल्लातकावल्गुकारसयुक्तं सद्यः प्राणहरमेतां वा धूमः।

(कौ० अर्थं० औपनि० १४।१।५)

इस योग में चितकबरा मेण्डक, कौंडिल्यक अग्नि-प्रकृति कीट जिसके विष्ठा और मूत्र में विष होता है, कृकण कीट या कयार पक्षी, कुष्ठ का पञ्चाङ्ग, कानखजूरा इन का चूर्ण। उच्चिटिङ्ग कीट जिसके पीठ में डंक होता है, कम्बली कीट, कनेर की लकड़ी, गिरगिट इनका चूर्ण। छिपकली, अन्धाहिक एक विष मछली, कृकण कीट या कयार पक्षी, दुर्गन्धी कीट, कटेहली इनका चूर्ण। भिलावा, बाबची इन दोनों के रस में गीले करके इनका धूँआ तुरन्त प्राणों का नाशक है।

इन दोनों प्रकार की कृत्याओं का सङ्केत या मूल निम्न मन्त्र में भी है—

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ॥
सर्वांस्तान् अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्रदर्शय ॥

(अथर्व० ११।१६।२४)

इन दोनों प्रकार की 'आङ्गिरसी' और 'आसुरी' कृत्याओं का उपयोग संग्राम में शत्रुसेना का घात करने के लिए होता है अब यह देखिये—

शितिपदी संद्यतु शरव्ये३यंचतुष्पदी ।
कृत्येमित्रेभ्यो भव त्रिषन्धेः सह सेनया ॥

(अथर्व० ११।१०।६)

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! तू (त्रिषन्धेः-सेनया सह) तीनों स्थल जल और आकाश में सम्बन्ध करने वाले राजा की सेनाद्वारा छोड़ी हुई (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिए शत्रुओं के संहार के लिए (भव) हो (इयम्) यह सेना (शरव्या) शर-हिंसक शस्त्रास्त्र फेंकने में योग्य (शितिपदी) शीघ्र पैरों वाली (चतुष्पदी) चार पद अर्थात् पैदल-घोड़े-हाथी विमान से सज्जित (संद्यतु) शत्रुसेना को खण्डित करे ।

इस मन्त्र में सेना द्वारा प्रयुक्त कृत्या संग्राम में काम आने वाली है।

कृत्या के आधार—

कृत्याएं दो प्रकार की बतलाई गई हैं, एक आङ्गिरसी-स्फोटक पदार्थों वाली जो गिर कर मकानों स्थानों को तोड़ फोड़ देने वाली है। दूसरी विषवस्तुओं से बनी मनुष्यों प्राणियों का घात करने वाली 'आसुरी' है। उस 'आसुरी' के आधार और प्रयोगस्थानों का वर्णन निम्न मन्त्रों में देखिये—

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते ।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि ॥

(अथर्व० ४ । १७ । ४)

अर्थ— (ते) तेरे लिए (याम्) जिस कृत्या को (आमे पात्रे) कच्चे पात्र में-निर्बलपात्र में (चक्रुः) करते हैं (याम्) जिसको (नीललोहिते) नीले लाल रंग के पक्के पात्र में (चक्रुः) करते हैं (यां कृत्याम्) जिस घातक प्रयोग को (आमे मांसे) कच्चे मांस में (चक्रुः) करते हैं (तया) उसी घातक क्रिया या प्रयोग से (कृत्याकृतः) कृत्या करने वालों को (जहि) मार।

विषकृत्या के तीन आधार बतलाए हैं, कच्चे निर्बल पात्र में पक्के दृढ़ पात्र में और मांस में विषकृत्याओं के प्रयोग किये जाते हैं। निकट स्थान पर या शीघ्र की जाने वाली कृत्याएं कच्चे पात्र में विषयुक्त पदार्थों को भरना होता है। कुछ दूर स्थान पर किसी के द्वारा भेजने वाली-कुछ देर में की जाने वाली या ऊँचे से विमान आदि द्वारा छोड़ी जाने वाली कृत्याएं पक्के पात्रों में की जाती हैं और अधिक दूर स्थान पर भेजने वाली देर में परिणाम लाने वालीं कृत्याएं कच्चे मांस में करते हैं जिससे विषपदार्थ देर में वायव्य (गैस) बन कर फैल सके या किसी जीवित प्राणी में करते हैं, उसके स्पर्श सहवास दूध और मूत्र तथा पुरीष आदि से विषाणु दूसरे का घात कर सकें जैसा कि 'सुश्रुत' में शत्रुओं के घात के लिए 'विषकन्या' तैयार करने का वर्णन है।

कृत्या के प्रयोग स्थान—

यदासन्द्यामुपधाने यद् वोपवासने कृतम्!
विवाहे कृत्यां यां चक्रुरास्नाने तां निदध्मसि ॥

(अथर्व० १४ । २ । ६५)

अर्थ—(यत्) जो कि (आसन्द्याम्) कुरसी में (उपधाने) सिरहाने में (यत्-वा) और जो कि

(उपवासने) उपवस्त्र-चादर आदि में (कृतम्) किया है (विवाहे) विशेष वाहन पालकी आदि सवारी में (आस्नाने) स्नान करने के जलाशय में (यां कृत्याम्) जिस कृत्या को (चक्रुः) करते हैं (ताम्) उसे (निदध्मसि) निराकृत करते हैं—तिरस्कृत करते हैं।

इस मन्त्र में आसन्दी (गद्दी शय्या) तकिये उपवस्त्र, चादर, पालकी आदि सवारी और जलाशय में विषकृत्याओं के करने की चर्चा है। 'सुश्रुत' के कल्पस्थान में भी विषप्रयोग इन स्थानों में शत्रु के घात के लिए करते हैं ऐसा कहा है।

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥

(अथर्व० ४ । १८ । ५)

अर्थ—(यां क्षेत्रे चक्रुः) जिस कृत्या घातक विषक्रिया को अन्न के खेत में करते हैं (यां गोषु) जिसको गौओं में गौ आदि पशुओं में (यां वा) या जिस कृत्या को (ते) तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में (सर्वाः कृत्याः) उन सब कृत्याओं को (अनया-ओषध्या) इस ओषधि से (अहम्) मैं (अदूदुषम्) दूषित करता हूं ।

इस मन्त्र में अन्न के खेतों में अन्न विषैले बनाने के लिए तथा गौ आदि पशुओं और मनुष्यों के घात के लिए विषकृत्याएं की जाती हैं ऐसा कहा है। यहां एक विशेष बात यह कही है कि खेत में विषकृत्या से खेत के अन्न विषदूषित हो जाते हैं ऐसी सम्भावना अन्यत्र भी अथर्व वेद में दी है जो निम्न प्रकार है।

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।
.... अविषं कृणोमि ॥

(अथर्व० ८।२।१९)

इस प्रकार अनेकों वस्तुओं में कृत्याएं की जाने का अथर्व वेद में वर्णन है विस्तार भय से हम सब पर यहां विचार नहीं कर सकते।

कृत्या का लौटाना—

अथर्व वेद में कृत्याओं के लौटाने का वर्णन है वह दो प्रकार से हो सकता है एक तो कृत्या के विषप्रभाव या घातक प्रभाव का शमनरूप, दूसरे उसके प्रतीकार में प्रत्याक्रमणरूप अर्थात् शत्रु पर वैसा ही प्रयोग करना। शमनरूप प्रतीकार ओषधियों के द्वारा और प्रत्याक्रमणरूप अग्नि, विद्युत्, सूर्य-किरणों आदि के द्वारा हो सकता है यही कृत्या का लौटाना है। यहां प्रथम कृत्या लौटाने के दो एक मन्त्र देकर पुनः उसके लौटाने के उपायों पर विचार करेंगे।

असद् भूम्याः समभवत्तद् द्यामेति महद् व्यचः ।
तद्वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥

(अथ० ४।१९।६)

इसका अर्थ हम अभी पीछे कर आए हैं, फैलने वाले पदार्थों का घातक प्रयोग कृत्या है यहां केवल यही बतलाना ध्येय है कि इसमें कृत्या के लौटाने का वर्णन भी "प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु" वचन से ज्ञात होता है ।

यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम् ।
वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुपपद्यताम् ॥

(अथ० ५।१८।२)

अर्थ—(देवाः) हे देवो ! (यः कृत्यां कृत्वा) जो कृत्या करके (अविदुषः-गृहं हरात) बिना जाने हुए के स्थान का संहार करे (तम्) उसको (धारुः-इव मातरम्) दूध पिलाने वाली माता के प्रति जैसे (वत्सः) बछड़ा जाता है ऐसे (प्रत्यक्-उपपद्यताम्) पीछे लौट जावे ।

एवम्—

पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश ।
बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥
अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम् ।
सुखो रथ इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥

(अथ० ५।१४।१०, १३)

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! तू (पुत्रः-इव पितरं गच्छ) पुत्र जैसे पिता के पास जाता है अपने उत्पादक के पास जा (स्वजः-इव-अभिष्ठितः-दृश) लिपटने वाला सांप जैसे अपने आश्रय में स्थित हुआ काटता है ऐसे काट (बन्धम्-इव-अवक्रामी) बान्धने वाले शिकारी पर जैसे जंगली जन्तु आक्रमण करता है ऐसे (कृत्याकृतं पुनर्गच्छ) कृत्या करने वाले के पास फिर जा—लौट ।

(अग्निः-इव प्रतिकूलं-एतु) कृत्या अग्नि की भांति प्रतिकूल प्राप्त हो शत्रु के प्रति जावे (उदकम्-इव-अनुकूलम्) जल के समान अनुकूल होकर जा हमारे लिए शमनरूप में हो जा (सुखः-रथः-इव) सुख हलका प्रगतिशील रथ के समान होकर (कृत्या कृत्याकृतं नर्वर्तताम्) कृत्या कृत्याकरनेवाले को पुनः प्राप्त हो ।

कृत्याएं लौटाई जाती हैं शमनरूप में या प्रत्याक्रमण-रूप में यह तो बतलाया जा चुका है वे ओषधियों तथा ओषधियों से बनी मणियों से शमन रूप में और अग्नि, विद्युत्, सूर्यकिरणों द्वारा प्रत्याक्रमणरूप में लौटाई जाती हैं अब इस विषय में मन्त्र और सूक्त देते हैं—

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥

(अथर्व० २ । ४ । ६)

कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥

(अथर्व० १९ । ३४ । ४)

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् ।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा विभर्त्याञ्जन ॥

(अथर्व० ४ । ९ । ५)

इन मन्त्रों का अर्थ हम पीछे मणियों के प्रकरण में कर आए हैं वहां से देखें । यहां तो केवल यह बतलाना ध्येय है कि "जङ्गिड मणि" को पिछले दो मन्त्रों में 'कृत्यादूषिः' और 'कृत्यादूषणः' कहा है तीसरे मन्त्र में 'आञ्जन-मणि' से कृत्याओं का प्रभाव नष्ट होता है यह बतलाया है । मणियां विषनाशक ओषधियों की होती हैं । विषनाशक ओषधियां विषैली वस्तुओं से बनी घातक क्रियारूप कृत्या की नाशक हैं । स्वयं अथर्ववेद में भी ओषधियों को कृत्यानाशक कहा है । देखिये—

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता
इहायन्त्वोषधीः ॥

(अथर्व० ८ । ७ । १०)

अर्थ—(याः-विवरुणाः) जो विशेष वरणीय उत्तम-पूर्ण (उग्राः) तीव्र गन्ध रस आदि गुणों से युक्त (विषदूषणीः) विषनाशक (अथ) और (बलासनाशनीः) कफनाशक (च) और (याः) जो (कृत्यादूषणीः) कृत्या-नाशक (ताः) वे (ओषधीः) ओषधियां (उन्मुञ्चन्तीः) रोगों से छुड़ाती हुई आवें-प्राप्त हों ।

इस मन्त्र में 'विषदूणी ओषधि' तथा विषनाशक ओषधियों को 'कृत्यादूषणीः' कृत्यानाशक कहा है ।

तथा—

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषणम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषुः ॥

(अथर्व० ४ । १८ । ५)

इस मन्त्र का अभी अर्थ कर आए हैं इसमें 'अन-याहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्' से ओषधियों के द्वारा कृत्याओं के नाश करने का वर्णन हैं ।

इस प्रकार विषनाशक ओषधियों तथा उनसे बनी मणियों (गोलियों, टिकियाओं) के द्वारा कृत्याओं के नष्ट करने का वर्णन शमन रूप से है । तथा मणियां ऐसी भी हैं जो कृत्याओं का प्रत्याक्रमण भी करती हैं जैसे 'प्रतिसर' अर्थात् प्रतीवर्त मणि देखिये निम्न मन्त्र—

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।...
...प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ १–२ ॥
तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥
(अथ० ८। ५। १–२।, ५)

इन मन्त्रों का अर्थ हम पीछे 'प्रतिसर मणि' के प्रकरण में कर आए हैं और वहां यह भी बतला आए हैं कि यह 'प्रतिसर मणि' एक फेंकने वाला अस्त्र है तभी मन्त्र में कहा है कि यह वीर मणि वीर सैनिक द्वारा बांधा जाता है जैसे बन्दूक आदि गोली फेंकने का साधन है। 'प्रतिसर' उससे भी बढ़ कर मशीनगन या टैंक जैसा अस्त्र है उसमें से बहुत 'प्रतिसर' मणियां गोले गोलियां निकल कर कृत्याओं का प्रत्याक्रमणरूप नाश कर सकती हैं तब ही तो यहां कहा है "प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु" कृत्याओं को प्रतिसरों प्रतिसर-रूप अनेक मणियों गोलियों गोलों से पीछे हटावें। कौन हटावें इसके लिए कहा है 'देवाः' देव वे कौन उसका भी कुछ सङ्केत है कि अग्नि. सोम, बृहस्पति, सविता, इन्द्र (विद्युत) इस वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि ये प्रतिसर मणियां अस्त्र अनेक प्रकार की होती हैं जिनसे शत्रु की कृत्याओं अस्त्रों का प्रत्याक्रमण रूप में उत्तर दिया जा सके। निःसन्देह प्रतिसर मणियां अस्त्र हैं इन अग्नि आदि वस्तुओं

के नाम आग्नेय अस्त्र आदि बाल्मीकि रामायण में भी दिए हैं विश्वामित्र ऋषिद्वारा राम के प्रति अस्त्रों के प्रदान प्रकरण में—

विष्णुचक्रं तथाऽप्युग्रमैन्द्रं चक्रं तथैव च।
वज्रमस्त्रं नरश्रेष्ठ······॥
आग्नेयमस्त्रं······
प्रस्वापनं प्रशमनं दद्मि सौम्यं च राघव।
सौरं तेजःप्रभं नाम परतेजोपकर्षणम्॥

(वाल्मीकि रा० । बालका० सर्ग २७, ५, ६, १०, १४, १९)

अब हम स्फोटक कृत्याओं का जो कि मकानों नगरों को तोड़ फोड़ देने तथा प्राणियों का घात करने वाली हैं उनके प्रत्याक्रमणरूप लौटाने के ब्राह्मास्त्र आदि अन्य उपायों का वर्णन एक समस्त सूक्त (अथर्व० १० । १) के के द्वारा करते हैं।

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः। सारादेत्वपनुदाम एनाम् ॥ १ ॥

अर्थ—(चिकित्सवः) रासायनिक-रसायन जानने वाले खनिज और वनस्पति पदार्थों के विज्ञानवेत्ता जन (वहतौ वधूम्-इव) वर या वरपक्ष वालों के निमित्त वधू की भांति (यां विश्वरूपां हस्तकृताम्) जिस समस्तरूपों वाली हाथों से बनाई

घातक वस्तु मूर्तिविधि को (कल्पयन्ति) सम्पन्न करते हैं- तैयार करते हैं (सा) वह (आरात्-एतु) हमसे दूर जावे (एनाम्-अपनुदामः) इसको हम हटाते हैं-लौटाते हैं।

शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता सम्भृता विश्वरूपा । सा० ॥ २ ॥

अर्थ—(कृत्याकृता) कृत्या बनाने वाले के द्वारा (शीर्षण्वती) सिरवाली (नस्वती) नाक वाली (कर्णिनी) कान वाली (विश्वरूपा) समस्तरूपों वाली जो (सम्भृता) तैयार हुई कृत्या है (सा०) वह हमसे दूर हो जावे । इसको हम हटाते हैं—लौटाते हैं ।

इस मन्त्र में ऐसा लक्षित होता है कि घातक कृत्याएं पुतलियों के रूप में बनाई जाती हैं बाहर से स्त्री आदि प्रतीत हों परन्तु अन्दर पटखने तोड़ फोड़ मचाने वाले घातक पदार्थ उसमें हों दूसरे लोग उन्हें ठीक न समझ कर उन पर आक्रमण करते हैं तब वे या स्वयं समय पर फटकर शत्रु के मण्डल नगर आदि में तोड़ फोड़ के पदार्थ छोड़ घात कर डालती है* ।

* शस्त्र-अस्त्रों के बाह्यरूप माया के बनाये जाते हैं उनमें नाक कान आदि सहित आकृतियां बनाते हैं । हैदराबाद दक्षिण के "दौलताबाद" दुर्ग में एक मेंढा के आकार की तोप हमने देखी है उसे मेंढा तोप कहते हैं ।

शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता ।
जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु ॥३॥

अर्थ—(शूद्रकृता) शूद्रों द्वारा की हुई (राजकृता) राजाओं के द्वारा की गई (स्त्रीकृता) स्त्रियों के द्वारा की गई (ब्रह्मभिः कृता) भेषजवेत्ता विद्वानों द्वारा की गई (जाया पत्या नुत्ता-इव) पति से ठुकराई हुई स्त्री जैसे अपने उत्पन्न कर्त्ता पितृकुल में चली जाती है ऐसे यह कृत्या हमसे ठुकराई हुई (कर्तारं बन्धु-ऋच्छतु) उत्पन्न करने तैयार करने वाले बन्धु को * प्राप्त हो ॥ ३ ॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥४॥

अर्थ—(अहम्-अनया-ओषध्या) मैं इस ओषधि से (सर्वाः कृत्याः) सारी कृत्याओं को (अदूदुषम्) नष्ट करता हूं (यां क्षेत्रे) जिसको अन्न के खेत में (यां गोषु) जिसको गौ आदि पशुओं में (वा) अथवा (ते) तेरे (यां पुरुषेषु) मनुष्यों में (चक्रुः) करते हैं ।

अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते ।
प्रत्यक् प्रति प्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥५॥

* "सुपां सुलुक्" (अष्टा० ७ । १ । ३९) से 'बन्धु' शब्द की द्वितीया विभक्ति का लुक् (लोप) होगा ।

अर्थ— (यथा) जैसे (अघकृते) पाप करनेवाले के लिए (अघम्) पाप तथा (शपथीयते) शपथ देने वाले-अपशब्द कहने वाले के लिए (शपथः) अपशब्द (अस्तु) हो। ऐसे ही (प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मः) कृत्या को भी पीछे लौटाते हैं (कृत्याकृतं हनत्) वह कृत्या करने वाले का घात करे ॥ ५ ॥

प्रतीचीन आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः ।
प्रतीचीः कृत्या आकृत्यामून् कृत्याकृतो जहि ॥६॥

अर्थ—(आङ्गिरसः) अङ्गिरा-अग्नि-अग्नितत्त्व का अग्निविद्या का जानने वाला "अङ्गिराः वा अग्निः" (श० ६।४।४।४) "तदधीते तद्वेद" (अष्टा० ४।२।५९) (प्रतीचीनः) प्रत्यञ्चनकारी-शत्रु के घातक प्रयोगों को लौटाने वाला (नः) हमारा (अध्यक्षः पुरोहितः) अक्ष में-समक्ष में वर्तमान हुआ पुरोहित है। वह तू (कृत्याः) कृत्याओं को (प्रतीचीः-आकृत्य) उलटी करके (अमून् कृत्याकृतः) उन कृत्या करने वालों को (जहि) मार ॥ ६ ॥

यस्त्वोवाच परेहीति प्रतीकूलमुदाय्यम् ।
तं कृत्येभिनिवर्तस्व मास्मानिच्छो अनागसः ॥७॥

अर्थ—(यः) जो (त्वा-उवाच) तुझे कहता है (परेहि-इति) जा (तं प्रतिकूलम्-उदाय्यम्) उस प्रतिकूल

उद्धत शत्रु को (कृत्ये) हे कृत्या ! तू (अभिनिवर्तस्व) लौट (अस्मान्-अनागसः) हम अनपराधियों को (मा-इच्छः) मत चाह ॥ ७ ॥

यस्ते परूंषि सन्दधौ रथस्येवर्भुर्धिया ।
तं गच्छ तत्र तेयनमज्ञातस्तेयं जनः ॥ ८ ॥

अर्थ—(यः) जो (ते परूंषि) तेरे जोड़ों को (सन्दधौ) जोड़ता है (धिया रथस्य-इव-ऋभुः) जैसे विश्वकर्मा रथकार बुद्धि से रथ को बनाता है। (तं गच्छ) उसको प्राप्त हो (तत्र) वहां (ते-अयनम्) तेरा आश्रय है (अयं जनः) यह जन-जनपद (ते-अज्ञातः) तेरा अज्ञात है अपरिचित है ॥ ८ ॥

ये त्वा कृत्वा लेभिरे विद्वला अभिचारिणः ।
शंभ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन
त्वा स्नपयामसि ॥ ९ ॥

अर्थ— (ये) जो (विद्वलाः) ज्ञानवान् या पीड़ा देने वाले (अभिचारिणः) घातक प्रयोग करने वाले जन (त्वा) हे कृत्या ! तुझे (कृत्वा) बनाकर (आलेभिरे) ठोकर देने के साधन से प्रेरित करते हैं (इदं शम्भु-कृत्या-दूषणम्) यह शमनकारक कृत्यानाशक (प्रतिवर्त्म) पीछे लौटाने वाला (पुनःसरम्) पीछे गति देने वाला 'पुनःसर'

साधन हमारे पास है (तेन) उससे (त्वा) तुझे (स्नपयामसि) लपेटते हैं* या गर्भस्रावित करते हैं।

कृत्याओं के लौटाने का साधन 'पुनःसर' नामक यहां कहा गया है जो कि मणिप्रकरण में कहे 'प्रतिसर' की भांति है परन्तु यह मणि नहीं है एक यान्त्रिक साधन है ॥ ९ ॥

यद् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम ।
अपैतु सर्वं मत् पापं द्रविणं मोपतिष्ठतु ॥ १० ॥

अर्थ—(यत्) कि हे कृत्या! (दुर्भगाम्) दुर्भगा-कुत्सित इन्द्रियवाली को (प्रस्नपिताम्) गर्भस्राव करती हुई (मृतवत्साम्) बच्चा मर जाने वाली स्त्री की भांति (उपेयिम) तुझे प्राप्त हों। तो (मत्) मुझ से (सर्वं पापम्) समस्त दोष (अपैतु) दूर हो जावे (द्रविणम्) बल (मा) मुझे (उपतिष्ठतु) प्राप्त हो ॥ १० ॥

यत्ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः ।
संदेश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु
त्वौषधीः ॥११॥

अर्थ—(ते पितृभ्यः-ददतः) हे राजन्! तेरे पिता आदि महानुभावों के लिए देते हुओं ने (वा) या

* "ष्णै वेष्टने" (भ्वादि०)

(यज्ञे) यज्ञ में देते हुओं ने (यत्) जो (नाम) उस कृत्या के सम्पर्क का जल "नामेत्युदकनाम" (निघं० १ । १२) । (जगृहुः) ग्रहण किया है उस (सर्वस्मात् संदेश्यात् पापात्) समस्त नोदने अन्दर घुसने वाले प्रभाव से (त्वा) तुझे (इमाः ओषधीः) ये ओषधियां (मुञ्चन्तु) मुक्त करे ॥ ११ ॥

देवैनसात् पित्र्यान्नामग्रहात् संदेश्यादभिनिष्कृतात् ।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस
ऋषीणाम् ॥१२॥

अर्थ—(देवैनसात्) देवों के प्रति किये अपराध से (पित्र्यात्-नामग्रहात्) पिता आदि सम्बन्धी अपयशकारी नाम लेने से (अभिनिष्कृतात् संदेश्यात्) मुख से निकाले ताड़नारूप वचन से (वीरुधः) ओषधियां (त्वा) तुझे (वीर्येण) गुण बल से (ब्रह्मणा) ब्रह्मा विद्वान् के द्वारा (ऋग्भिः) ऋचाओं से (ऋषीणां पयसा) गतिशील पदार्थों-सूर्यकिरणों के तेज के सहयोग से (त्वा) तुझे (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥१२॥

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् ।
एवा मत् सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥१३॥

अर्थ—(यथा) जैसे (वातः) वायु (भूम्याः) भूमि से (रेणुम्) धूलि को (च) और (अन्तरिक्षात्)

अन्तरिक्ष से (अभ्रम्) बादल को (च्यावयति) च्युत कर देता है-उड़ा देता है (एव) इसी प्रकार (मत्) मुझ से (सर्वं दुर्भूतमं) सब बुरा प्रभाव (ब्रह्मनुत्तम्) ब्रह्मा वैज्ञानिक से या ब्रह्मास्त्र से प्रेरित किया हुआ (अपायति) दूर हो जावे ॥१३॥

अपक्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव।
कर्तॄन् नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता ॥१४॥

अर्थ—(नानदती) अत्यन्त नाद करती हुई (विनद्धा) बिना बंधी हुई (गर्दभीव) गर्दभी घोड़ी की भांति (अपक्राम) भाग जा तथा (इतः) यहां से (वीर्यवता ब्रह्मणा) बलवान् ब्रह्मास्त्र से (नुत्ता) ताड़ित हुई (कर्तॄन् नक्षस्व) कर्ताओं को प्राप्त हो ॥१४॥

अयं पन्थाः कृत्येति त्वा नयामोऽभिप्रहितां प्रति त्वा प्रहिण्मः । तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥१५॥

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! (अयं पन्थाः) यह मार्ग है (इति) बस इससे (त्वा) तुझे (नयामः) ले जाते हैं (अभिप्रहितां त्वा) शत्रु से भेजी हुई तुझको (प्रतिप्रहिण्मः) पीछे प्रेरित करते हैं-लौटाते हैं (तेन) उससे तू (भञ्जती) तोड़ फोड़ करती हुई (अनस्वती) यान वाली (वाहिनी)

वाहन वाली (विश्वरूपा) सब रूपों वाली (कुरूटिनी) बुरी तरह घात करती हुई (अभियाहि) शत्रु के सम्मुख जा ॥१५॥

पराक ते ज्योतिरपथं ते अर्वागन्यत्रास्मदयना कृणुष्व । परेणेहि नवतिं नाव्या अति दुर्गाः स्रोत्या मा क्षणिष्ठाः परेहि ॥१६॥

अर्थ--(पराक्) पीछे लौटने को (ते) तेरे लिए (ज्योतिः) प्रकाश है--मार्ग है (अर्वाक्) इधर हमारी ओर आने को (ते) तेरे लिए (अपथः) अमार्ग है (अस्मत्-अन्यत्र) हम से अन्यत्र (अयना कृणुष्व) आश्रय बना (नवतिं नाव्याः-दुर्गाः स्रोत्याः) नौकाओं से पार होने योग्य गहरी नब्बे नदियों को (परेण-अतीहि) परले शत्रु के तरफ के मार्ग के द्वारा अतिक्रमण कर (मा क्षणिष्ठाः) हमें मत हिंसित कर (परेहि) दूर जा ॥ १६ ॥

वात इव वृक्षान् निमृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम् । कर्तॄन् निवृत्येतः कृत्येप्रजास्त्वाय बोधय ॥ १७ ॥

अर्थ—(कृत्ये वातः-इव वृक्षान् कर्तॄन् निमृणीहि) हे कृत्या ! तू अपने बनाने वालों भेजने वालों को आंधी जैसे वृक्षों को नष्ट करती है ऐसे हिंसित कर (पादय) विनष्ट कर (एषाम्) इनके (गाम्-अश्वं-पुरुषं मा-उच्छिषः) गौ घोड़े

मनुष्य को मत शेष रहने दे (इतः) यहां से (निवृत्य) लौट कर (अप्रजास्त्वाय बोधय) उनको प्रजाहीनता के लिए जला फूंक ॥ १७ ॥

यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः। अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येऽभिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम् ॥१८॥

अर्थ—(यां कृत्यां ते बर्हिषि) जिस कृत्या को तेरे जलाशय में "बर्हिरुदकनाम" (निघ० १।१२) (यां श्मशाने) जिस कृत्या को श्मशान भूमि में (क्षेत्रे) खेत में (वा) या (वलगम्) वलग--गुप्त घातक प्रयोग को (निचख्नुः) नीचे दबाते हैं (वा) या (धीरतराः) अत्यन्त कठोर जन (त्वा पाकम्-अनागस सन्तम्) तुझ शुद्ध पापरहित होते हुए के प्रति (गार्हपत्ये-अग्नौ) गार्हपत्य अग्नि में (अभिचेरुः) अभिचार करते हैं–छल से घातक प्रयोग करते हैं उसे हम नष्ट करते हैं ॥१८॥

उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम्। तदेतु यत आभृतं तत्राश्व इव विवर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम् ॥१९॥

अर्थ—(उपाहृतम) ऊपर से ढके हुए (अनुबुद्धम्) स्फुरित होने वाले पटखने जलने खिलने वाले (निखातम्)

सुरंग आदि द्वारा दबाए हुए (त्सारि) कुटिल (कर्त्रं वैरम्) हिंसक घातक वैर को-शस्त्र अस्त्र प्रयोग को (अन्वविदाम) हम जान चुके हैं (तत्) वह (यतः-आभृतम्) जहां से आया-लाया (तत्र) वहां (एतु) जावे (अश्वः-इव) वहां घोड़े के समान (विवर्तताम्) उलटा वर्ते-दौड़ जावे (कृत्याकृतः प्रजां हन्तु) कृत्या करने वालों की प्रजा को नष्ट करे ॥

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते
कृत्ये यतिधा परूंषि । उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते
किमिहेच्छसि ॥२०॥

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! (नः-गृहे) हमारे घर में (स्वायसाः) उत्तम लोहे से बनी हुई (असयः) तलवारें (सन्ति) हैं । तथा (ते) तेरे (यतिधा) जितने प्रकार के (परूंषि) जोड़ हैं। उन्हें (विद्म) हम जानते हैं अतः (अज्ञाते) हे अज्ञातरूपा छिपी हुई कृत्या ! तू (उत्तिष्ठ-एव) उठ ही (इतः परा-इहि) यहां से दूर चली जा (किम्) क्या (इह) यहां (इच्छसि) चाहती है, देख !

ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव ।
इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती ॥२१॥

अर्थ— (कृत्ये) हे कृत्या ! (ते) तेरी (ग्रीवाः) गर्दनें-गर्दनों के भागों (च) और (पादौ) दोनों पैर (अपि

कर्त्स्यामि) अवश्य काट दूंगा। अतः (निर्द्रव) निकल जा (इन्द्राग्नी) विद्युत् अग्नि (अस्मान्) हमारी (रक्षताम्) रक्षा करें (यौ) जो (प्रजानाम्) प्रजाओं के (प्रजावती) प्रजापति हैं* ॥ २१ ॥

इस मन्त्र में 'इन्द्राग्नी' विद्युत-अग्नि को कृत्याओं से बचाने वाले कहा है। इनके द्वारा कृत्या का शमन या शत्रुओं के प्रति प्रेरित किया जाना लक्षित होती है।

सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु ॥ २२ ॥

अर्थ—(सोमः-राजा) सोम ओषधि या चन्द्रमा (अधिपाः) रक्षक (मृडिता) सुखकारक (च) तथा (भूतस्य) उत्पन्न संसार के (पतयः) पालक पदार्थ (नः) हमें (मृडयन्तु) सुखी करें ॥ २२ ॥

यहां कृत्यानाशक योग में सोम ओषधि या चन्द्रमा को भी साधनरूप में बतलाया है ॥ २२ ॥

भवशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते ।
दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥ २३ ॥

अर्थ—(पापकृते) कृत्यारूप पाप करने वाले (दुष्कृते) दुष्कर्म करने वाले (कृत्याकृते) कृत्या करने वाले

---

* प्रजावती-प्रजापती पकारस्य वकारश्छान्दसः पदपाठे प्रगृह्यं मत्वा चेति करणात्।

के लिए (भवशर्वौ) उत्पादक नाशक प्रकाश और दाह अग्नि के दोनों धर्म तथा मित्र वरुण दो शक्तियां (देवहेतिं विद्युतम्) दिव्यवज्ररूप विद्युत् को (अस्यताम्) फेंकें ॥ २३ ॥

यहां प्रकाशक, दाहक, आग्नेय दो धर्मों से विद्युत् को फैंकने की चर्चा है ॥

यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता सम्भृता विश्वरूपा । सेतोष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने ॥ २४ ॥

अर्थ—(दुच्छुने) दुष्टवृत्तिवाली कृत्या ! तू (कृत्याकृता) कृत्या बनाने वाले के द्वारा (यदि) यदि (द्विपदी) दोपैरवाली (चतुष्पदी) चारपैरवाली (विश्वरूपा) सब रूपों वाली (सम्भृता) तैयार की हुई (इयथ) आई है (सा) वह तू (अष्टापदी) आठ पैर वाली (भूत्वा) होकर (इतः) यहां से (पुनः परेहि) पीछे लौट-या पुनः लौट ॥ २४ ॥

अभ्यक्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि । जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम् ॥ २५

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! तू (सर्वं दुरितं भरन्ती) पूर्ण दुःख पहुंचाने के हेतु (अभ्यक्ता) माया से चिकनी चुपड़ी की हुई—पालिश चढ़ी हुई (आक्ता) चित्रित की हुई

(स्वरंकृता) सजाई हुई है। अतः (परेहि) दूर जा (दुहिता-इव स्वं पितरम्) लड़की जैसे अपने पिता को ऐसे (कर्तारं जानीहि) कर्ता को जान ॥ २५ ॥

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय ।
मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥ २६ ॥

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! तू (परेहि) परे जा (मा तिष्ठ) मत ठहर (विद्धस्य-इव पदं नय) बिंधे हुए शिकार के पद चिह्न की ओर चल (सः-मृगः) वह मृग है (त्वं मृगयुः) तू व्याध है (त्वा) तुझे (न) नहीं (निकर्तुमर्हति) काट सकता है ॥ २६ ॥

उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा ।
उत पूर्वस्य निघ्नतो निहन्त्यपरः प्रति ॥२७॥

अर्थ—(उत) या तो (अपरः) दूसरा पुरुष (पूर्वासिनम्) पहिले से बैठे को (प्रत्यादाय) पकड़ कर (इष्वा) फेंकने योग्य अस्त्र से (हन्ति) मारता है (उत) या फिर (पूर्वस्य निघ्नतः) पहिले से मारते हुए के (प्रति) प्रतिकार में (अपरः) दूसरा पुरुष (निहन्ति) मारता है। अतः—

एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यत एयथ
यस्त्वा चकार तं प्रति ॥ २८ ॥

अर्थ—(एतत्-हि) इतना ही (मे वचः) मेरा वचन (शृणु) सुन (यतः) जहां से (एयथ) आती है (यः) जो (त्वा) तुझे (चकार) करती है (तं प्रति) उसके प्रति (अथ) अब (इहि) जा ॥ २८ ॥

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः । यत्र यत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव ॥२९॥

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! (अनागोहत्या) अदोषी की हत्या (वै) निश्चय (भीमा) भयङ्कर है–बुरी है (नः) हमारे (गाम्-अश्वं पुरुषम्) गौ घोड़े मनुष्य को (मा वधीः) मत मार (यत्र यत्र) जहां जहां (निहिता-असि) छिपी पड़ी है (ततः) वहां से (त्वा) तुझे (उत्थापयामसि) हम उठाते हैं (पर्णात्) पत्ते से भी (लघीयसी) हलकी (भव) हो ॥२९॥

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव ।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्रहिण्मसि ॥३०॥

अर्थ—(यदि) यदि (तमसा) अन्धकार से (आवृताः) भरी हुई । तथा (जालेन) जाल से (अभिहिताः-इव) जाल से सम्पन्न हुई सी (स्थ) हो (सर्वाः कृत्याः) सब कृत्याओं को (संलुप्य) मूर्च्छित करके (इतः) यहां से (कर्त्रे) कर्ता के लिए (पुनः प्रहिण्मसि) हम पीछे लौटाते हैं ॥३०॥

यहां कृत्याओं को धूम से भरी हुई और जालमयी बतलाया है जो मनुष्यों को अन्धा कर देती है तथा उन्हें पाश में बान्ध लेती हैं ॥३०॥

कृत्याकृतो वलगिनोभिनिष्कारिणः प्रजाम् ।
मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोमून् कृत्याकृतो जहि ॥३१॥

अर्थ—(कृत्ये) हे कृत्या ! तू (वलगिनः)बन्धन के गुप्त प्रयोग करने वालों तथा (अभिनिष्कारिणः) अभिघात करने वालों–अभिचार करने वालों और (कृत्याकृत्यः) कृत्या करने वालों की (प्रजाम्) प्रजा को (मृणीहि) मार (अमून् कृत्याकृतः) उन कृत्या करने वालों को (मा-उच्छिषः) मत छोड़ । किन्तु (जहि) मार ॥३१॥

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून् ।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ३२।

अर्थ—(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (तमसः परि) अन्धकार से (मुच्यते) छूट जाता है । तथा (रात्रिम्) रात्रि को (च) और (उषसः-केतून्) उषा के चिह्नों–प्रकाशान्धकार-मय रूपों को भी (जहाति) छोड़ देता है । (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (कृत्याकृता) कृत्या करने वाले के द्वारा (कृतम्) किये गये (सर्वम्) सब (दुर्भूतम्) बुरे (कर्त्रम्) घातक

प्रान्तीय संकीर्णता के इस प्रचंड प्रभंजन में भी नन्दादीप बनकर शनैःशनैः अपने प्रकाश क्षेत्र को बढ़ा रहा है। यह दीपक है आर्य समाज।

कार्यक्षेत्र

आर्य समाज को इस प्रदेश में अपना कार्य आरम्भ किए अनेक वर्ष व्यतीत हो गए हैं। शनैः शनैः उसने उत्तर भारत से यहां आकर बसे लोगों के समान ही दक्षिण भारतीयों में भी अपनी ज्ञान ज्योति प्रस्फुटित की है। अनेक मूक साधकों, आर्य संस्कृति आराधकों एवं महर्षि के अनुयायियों के ठोस परिश्रम, लगन और उत्साह के फलस्वरूप तमिलनाडु में आर्य समाज का कार्यक्षेत्र विस्तार पा रहा है।

इन दिनों महानगर मद्रास में ही चार प्रमुख आर्य समाज हैं—ट्रिपलकेन, कोलम्बकम्, माउन्ट रोड और जिमाबुयूर। आर्य समाज का प्रधान कार्यालय है आदि अप्पा नायकम् स्ट्रीट में। चार आर्य समाजों में से तीन के तो अपने भवन भी निर्मित हो गए हैं। इन सभी समाजों में प्रति सप्ताह जहां सत्संग आदि का कार्यक्रम सुचारु रूप से सम्पन्न होता है वहां वार्षिकोत्सवों के अवसर पर देश के प्रमुख आर्य विद्वानों के भाषणों और प्रवचनों से भी सैकड़ों तमिल-नाडु वासी लाभान्वित होते हैं और देव दयानन्द द्वारा प्रवाहित ज्ञान की गंगा में अवगाहन कर सत्य का साक्षात्कार करते हैं। समाज के सभासदों में पंजाब, सिंध, गुजरात और उत्तर-प्रदेश आदि से मद्रास में आकर अपने व्यवसाय के सिलसिले में बसे लोगों की संख्या पर्याप्त है तो तमिलनाडु के स्थानीय निवासियों की संख्या भी द्रुत गति से बढ़ती जा रही है।

मद्रास नगर के अतिरिक्त उसके कुछ उपनगरों में भी आर्यसमाज सक्रिय है और मदुरै इत्यादि कई प्रमुख नगरों में भी अब देव दयानन्द का पावन सन्देश गूंजने लगा है।

हिन्दी प्रचार में योगदान

हिन्दी के विरोध में इस प्रान्त में उठाए गए प्रचण्ड तूफान के बावजूद आर्य समाज यहां महर्षि दयानन्द द्वारा दिए गए आर्य भाषा के प्रचार और प्रसार के आह्वान की पूर्ति में दृढ़ संकल्प सहित कार्यरत है। यहाँ आर्य समाज द्वारा डी० ए० वी० हायर सेकन्डरी स्कूल का संचालन होता है तो आर्य समाज चन्दूलाल पारीख बालिका मिडिल विद्यालय और दयानन्द पाठशाला में भी हिन्दी के पठन-पाठन की सराहनीय व्यवस्था है।

आर्य समाज के इन विद्यालयों में हिन्दी भाषी ही नहीं अपितु अनेक अहिन्दी भाषी भी हिन्दी भाषा का अध्ययन करते हैं। समाज ने जहां अपने

विद्यालयों में हिन्दी की शिक्षा का प्रबंध किया है, वहाँ तमिल की शिक्षा दीक्षा की भी उनमें व्यवस्था की गयी है।

वैदिक ज्ञान का प्रचार

आर्यसमाज ने तमिलनाडु में हिन्दी के प्रचार और प्रसार का दायित्व वहन कर जहाँ राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने का सराहनीय प्रयास जारी रखा है, वहाँ तमिल जो इस प्रदेश के बहुसंख्यकों की भाषा है, की भी उपेक्षा नहीं की। पिछले दिनों ही यहाँ सत्यार्थ प्रकाश के तमिल संस्करण का विमोचन उपराष्ट्रपति श्री बी० डी० जत्ती के करकमलों से एक भव्य समारोह में सम्पन्न हुआ।

आर्यसमाज की पत्रिका दयानन्द ज्योति का प्रकाशन तमिल भाषा में होने से भी अनेक तमिल भाषियों को आर्यसमाज के संपर्क में आने और उसके संदेश को समझने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है।

एक गहन रोग का निदान

तमिलनाडु में ब्राह्मण अब्राह्मण विवाद भी चरम सीमा पर रहा है और उससे यहाँ की राजनीति ही नहीं अपितु सामाजिक व्यवस्था भी बड़ी सीमा तक प्रभावित रही है। अब आर्यसमाज द्वारा प्रदत्त सत्य वैदिक ज्ञान के पावन प्रकाश में अनेकों जन्मना अब्राह्मणों को भी अपना जीवन सत्य के ज्ञान से संवारने का सुअवसर प्राप्त हो रहा है। मंद गति से ही क्यों न हो आर्यसमाज इस प्रदेश की राजधानी के सभी वर्गों में अपना स्थान बनाता जा रहा है।

समाज के कर्णधार

विपरीत परिस्थितियों के इस प्रबल अंधड़ में भी धर्म के वास्तविक स्वरूप को जन-जन में फैलाने और उन्हें आशा ही नहीं अपितु विश्वास की राह दिखाने के लिए जो ऋषि भक्त संकल्पबद्ध होकर तल्लीन हैं उनमें अध्यक्ष श्री धर्मजीत जिज्ञासु एवं मंत्री श्री टी० एस० नारायण तो प्रमुख हैं ही, साथ ही श्री आर० वेलायुधन, श्री इन्द्रसेन तथा श्री जयदेव जी आदि भी महर्षि के पावन सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने हेतु प्रयासरत हैं।

उनके अनथक प्रयत्न शनैः शनैः फलीभूत भी हो रहे हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि अनेकता और विघटन की उस आँधी में जो तमिलनाडु में अभी भी बह रही है, आर्यसमाज ही एक ऐसी विचारधारा है कि जो भ्रान्ति के पटल को पूर्णतः विदीर्ण कर विदेशी शासकों द्वारा अनेक वर्षों तक प्रचारित और प्रसारित मिथ्या धारणाओं को जनता जनार्दन के मानस पटल से हटाने में

समर्थ है।

'जन-ज्ञान' का योगदान

अपने इस प्रवास के दौरान ही मेरी भेंट एक दिन त्यागराज नगर में आयोजित एक गोष्ठी में श्री वी० कृष्ण अय्यर नामक एक पत्रकार एवं साहित्यकार बन्धु से हो गयी। जब उनसे मेरा परिचय हुआ तो वार्ताक्रम में ही तमिलनाडु में वैदिक धर्म के प्रचार और प्रसार की स्थिति पर भी विचार विमर्श होने लगा। हठात् उनके मुख से निकला कि 'आप दिल्ली से आए हैं, जहाँ से 'जन-ज्ञान' नामक अंग्रेजी और हिन्दी मासिक का प्रकाशन होता है। क्या आपका जन ज्ञान संपादक से परिचय है ?' जब मैंने उनके प्रश्न के उत्तर में 'जन-ज्ञान' और दयानन्द संस्थान के सम्बन्ध में जानकारी होने की स्वीकारोक्ति की तो वह नितांत प्रसन्न और हर्षित मुद्रा में बोले, 'जन-ज्ञान' वैदिक विचारधारा के प्रचार और प्रसार में ठोस योगदान दे रहा है। उसमें प्रकाशित सामग्री से जहाँ हमें आर्यसमाज और महर्षि दयानंद की विचार धारा को सही परिप्रेक्ष्य में समझने का अवसर मिल रहा है वहाँ वैदिक विचारधारा का भी यह मासिक हमें सही रूप में दर्शन करा रहा है।

'जन-ज्ञान' संपादक का परिचय पूछने पर जब मैंने ज्योत्स्ना के सम्बन्ध में यह बताया कि उसने हाल ही में अंग्रेजी में एम० ए० की उपाधि प्राप्त करने के उपरांत पत्रकारिता की परीक्षा में भी सफलता प्राप्त की है तो श्री अय्यर आश्चर्यचकित होकर कहने लगे, "मैं तो समझता था कि ज्योत्स्ना जी १५-२० वर्ष से पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्यरत होंगी। वस्तुतः इतनी युवा अवस्था में इतना सुदक्ष संपादन, सरल और प्रभावी भाषा—यह तो मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी।"

और उस समय मेरा माथा गर्व से ऊंचा हो गया। क्योंकि ऐसा भला कौन होगा जिसे अपने किसी की किसी सर्वथा अपरिचित द्वारा की गई प्रशंसा पर हर्ष न हो।

श्री अय्यर के ये शब्द भी मेरे लिए एक नवीन प्रेरणा का स्रोत बने और साथ ही आर्यसमाज द्वारा दिए जा रहे सही दिशादान का प्रमाण भी कि "मैं अपनी मान्यताओं में सनातनी हूँ किन्तु आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द की विचारधारा में उभरा अग्रगामी वेदवाद ही स्वजाति, स्वदेश, स्वधर्म तथा स्वसंस्कृति के कल्याण का एकमात्र मार्ग है'। आर्यसमाज ही यहाँ अंधकार में प्रकाश की किरण बन सकता है।"

भविष्य ही बताएगा कि उनकी यह आशा कहाँ तक पूर्ण होती है।

और जो विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत और शिक्षा को छोड़ मुसलमान ईसाइयों के सदृश बन बैठना यह भी व्यर्थ है। जब पतलून आदि वस्त्र पहनते हो और तमगे की इच्छा करते हो तो क्या यज्ञोपवीत आदि का बड़ा भार हो गया था ? (स० प्र० ११ समु०)

उपनयन का महत्त्व

श्रावणी और उपनयन का गहरा संबंध है। अतः इस अवसर पर आर्यसमाज के गौरव शास्त्रार्थ महारथी पं० बिहारीलाल जी शास्त्री का सामयिक लेख प्रस्तुत है।
—संपादक

हिन्दुओं में आतमहीनता (Inferiority complex) का रोग इतना बढ़ गया है कि अपनी उत्तम से उत्तम रीति और सिद्धान्तों को बुरा समझना और अन्यों की मूर्खतापूर्ण बातों की भी श्लाघा करना।

यज्ञोपवीत और शिखा को तो व्यर्थ बताते हैं और विलायत के बिल्लों को रुचि से लगाते हैं। यदि जड़ बिल्ले, मैडल, झंडे, बैज, हृदय पर प्रभाव डालते हैं और जड़ चित्र चेतन आतमा को प्रेरणादायक हैं तो शिखासूत्र प्रेरणादायक क्यों नहीं हैं ?

शिखा के बाल जहाँ रखे जाते हैं वहीं सब ज्ञानवाहिनी शिराओं का केन्द्र है। इसी शिरोभाग को वेद ने 'स्वर्ग्यो ज्योतिषावृतः" प्रकाश से आवृत स्वर्गीय पदार्थ कहा है। सब सन्तों ने ब्रह्मरंध्र की प्रशंसा की है। यहाँ हीं सुरत चढ़ाकर संत भवसागर पार होना मानते हैं। इसी को सहस्रार चक्र और सहस्र दल कमल सब सन्तों ने कहा है। अतः शिर के इस भाग पर बाल रखने का ऋषियों ने विधान किया कि जिससे यह स्मरण होता रहे कि हमारा कर्तव्य ज्ञान की प्राप्ति है और चरम लक्ष्य ब्रह्म ज्ञान तक पहुँचना है। मस्तिष्क और प्राण का संयोग कराना है। साथ ही धूप, शीत, वर्षा से इस कोमल और प्रमुख स्थान की रक्षा भी करनी है। शिखा इन्हीं बातों की प्रेरणा देती है। यदि किन्हीं स्वास्थ्य रक्षक कारणों से शिखा न भी रखी जाये तो कोई पाप नहीं, क्योंकि

वेद कहता है:—

श्रियै शिखा, यजुः, १९।९२

शोभा, सौभाग्य लक्ष्मी के लिए शिखा है। परन्तु बिना कारण ही शिखा का त्याग करना महामूर्खता है।

संसार की सब बड़ी-बड़ी इमारतों पर चोटी रहती है। आर्य जाति भी संसार की बड़ी जाति है अतः उसके चोटी होनी ही चाहिए।

अन्य देश वालों के चोटी नहीं होती। चीनियों के पहले चोटी रहती थी अब उन्होंने कटा डाली अतः हमें भी कटा डालनी चाहिए यह तो अन्य देशों का अन्धानुकरण हुआ? चोटी रखने में दुर्गुण वा हानि बिना बताये क्यों चोटी कटा दी जाये? इसे सोचना चाहिए।

चोटी और लंगोटी यही तो हमारी संस्कृति के दो चिह्न हैं। चोटी और संयम ज्ञान का प्रतीक (Symbol of Knowledge) और लंगोटी है सदाचार का प्रतीक। जिस जाति में ज्ञान और सदाचार है वह जाति धन्य है। चोटी और लंगोटी वाले ज्ञान और सदाचार से हीन क्यों देखे जाते हैं? यह प्रश्न कोरा आक्षेपात्मक है। चिह्नों के साथ कुछ अन्य कर्तव्य भी तो करणीय हैं। केवल वर्दी और झंडा ही तो सेना को विजय नहीं दिला सकते। शस्त्र और युद्ध कला की भी अपेक्षा है। शिखा और यज्ञोपवीत के साथ विद्याध्ययन व्रत-पालन भी आवश्यक हैं। पर जैसे वर्दी और झंडा भी आवश्यक हैं वैसे ही दोनों चिह्न भी। न्यायालय में जाने पर वकील को चोगा और कुछ चिह्न आवश्यक हैं तो गुरुकुल प्रवेश के लिए भी दोनों चिह्न आवश्यक हैं। गुरुकुल के अतिरिक्त वर्णाश्रम के भी तो ये चिह्न हैं।

प्रश्न—तो और कोई चिह्न बना लिए जायें?

उत्तर—तो इन चिह्नों में आपको क्या दोष दीख पड़ते हैं। यदि इनमें कोई दोष नहीं तो अन्य चिह्न क्यों रक्खे जायें?

प्रश्न—ये पुराने हो गये हैं।

उत्तर—तो भूमि, जल, धूप, वस्त्र सब पुराने हैं। सबका विध्वंस करके नयी सृष्टि बनाओगे क्या?

प्रश्न—जनेऊ का प्रयोजन क्या है?

उत्तर—९६ अंगुल तार का तीन लड़ी वाला चिह्न स्मरण कराता है कि हमें जीवन में ६४ कलाओं और ३२ विद्याओं को पूर्ण करना है अतः जितना भी पुरुषार्थ उसके लिए कर सकें करें। तीन तार स्मारक हैं कि ऋषि-ऋण,

देवऋण और पितृऋण को उतारने के लिए आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय यज्ञादि परोपकार और वृद्धों की सेवा करना है तथा ज्ञान और ज्ञानानुसार कर्म और ज्ञान कर्म वे जो ईश्वर की ओर ले जायें अर्थात् उपासना के सहित रहें। ज्ञान, कर्म, उपासना वेदों के इन तीनों कांडों का ज्ञान प्राप्त करना है। जितना भी हो सके जीवन में उतना करें।

प्रश्न—कला और विद्यायें क्या हैं ?

विद्या ह्यनन्ताश्च कलाः संख्यातु नैव शक्यते।
विद्यामुख्याश्च द्वात्रिंशच्चतुःषष्टि कलाः स्मृताः।
यत्स्याद्वाचिकं सम्यक्कर्म विद्याभिसंज्ञकम्।
शक्तो मूकोऽपि यत्कर्त्तुं कलासंज्ञं तु तत् स्मृतम्।

शुक्र नीति अध्याय ४ श्लोक ६४, ६५

अर्थात् यद्यपि विद्यायें और कलायें असंख्य हैं परन्तु मुख्य विद्यायें ३२ और कलायें ६४ हैं।

जो वाणी का विषय है वह विद्या और जिसे गूंगा भी कर सके वह कलाए अर्थात् वाचिक ज्ञान विद्या और हाथ से काम का करना कला है। आगे इनको गिनाया गया है।

यज्ञोपवीत के ९६ अंगुल तार का होने का दूसरा प्रयोजन है कि मनुष्य का शरीर भी ९६ अंगुल का ही होता है। यथा:—

शरीरं तावदेव स्यात् षण्णवत्यंगुलात्मकम्।
देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्॥

अर्थात्—शरीर ९६ अंगुल (अपने अंगुल से) होता है। उसके मध्य हृदय आगे का स्थान है चमकते सोने के समान। जाबाल दर्शनोपनिषद् खंड ४, श्लोक १

अर्थात्—सम्पूर्ण शरीर मानो यज्ञोपवीत के नियन्त्रण में रहेगा।

शरीर इन्द्रिय व्यापारादि का बंधना और वश में रखना जीवात्मा को मुक्त करता है।

प्रश्न—ये सब जगड्वाल हैं। खाना-पीना आराम से रहना यही जीवन का लक्ष्य है।

उत्तर—तो मनुष्य और पशु में भेद क्या रहा ? मानव जीवन पुरुषार्थ के लिए है और पुरुषार्थ है ज्ञान की ज्योति को जगाना, सदाचार (ब्रह्मचर्य) के साथ जीवन को संयम युक्त बना के लोक कल्याण सुव्यवस्था की स्थापना करना। इसलिए यज्ञोपवीत संस्कार में बालक बालिकायें कहते हैं:—

अनृतात् सत्यमुपैमि

अनृत अव्यवस्थित जीवन से ऋत सत्य सुव्यवस्थित जीवन की ओर बढ़ता है।

सुव्यवस्थित जीवन वही है जो सदा नियम के अनुसार रहे। इसलिए वेद मंत्र में सृष्टि के देव और इन देवों को प्रेरणा देने वाले अध्यात्म देव भगवान् का स्मरण किया जाता है।

१. अग्ने व्रतपते, २. वायो व्रतपते, ३. सूर्य व्रतपते, ४. चन्द्र व्रतपते, ५. व्रतानां व्रतपते।

ईश्वर को भिन्न-भिन्न नामों से संबोधन करने का तात्पर्य यही है कि इन पदार्थों के अनुसार नियमित जीवन बनाया जावे। प्रभु से आध्यात्मिक बल की प्रार्थना की गई है—

तच्छकेयम्

भगवन्! मैं अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, इन्द्र के समान आपके नियमों में रहकर दैवी सम्पत्ति का अधिकारी बनूं। अनृत जीवन मनुष्यत्व (अनृता वै मनुष्याः) से ऋतदेवत्व (ऋतं वै देवाः) की ओर चलूं। अज्ञानी साधारण मनुष्य के जीवन से उठकर ज्ञानी विद्वानों के दिव्य जीवन को प्राप्त करूं। इस पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति कैसे होगी? इसका उपाय गुरु बताता है कि अपने हृदय को शुद्धजल के समान निर्मल रक्खो, गुरु शिक्षा इस विधि द्वारा दी जाती है कि गुरु बालक बालिका की अंजलि में जल भर अपनी अंजलि के जल को छोड़ देता है और दोनों जल मिला कर एक रूप हो जाते हैं। गुरु का काम भी इसी प्रकार शिष्य को आत्मसत् करना है। शिष्य की अंजलि भी जलपूर्ण होनी चाहिए अर्थात् सीखने वाले में कुछ अपनी बुद्धि और शुद्धहृदयता होनी चाहिए। जिसे अपनी गाँठ की अक्ल नहीं उसकी सारी शिक्षा "अंधस्येव दर्पणम्" अंधे को आईना दिखाना है। फिर गुरु बालक बालिका की अंजलि के जल को एक पात्र में छुड़वा देता है। यह अभिनय इस बात की शिक्षा देता है कि अपने प्राप्त किए ज्ञान को अपने ही तक न रक्खो किसी पात्र में निक्षेप कर दो। जब पात्र मिले उसे ज्ञान दे दो। ज्ञान का प्रसार चलता रहे। ज्ञान अवरुद्ध न हो।

कैसी सुन्दर शिक्षायें दी जा रही हैं इन विधियों द्वारा। क्या ये विधियां उपेक्ष्य हैं। आज शिक्षा बढ़ रही है पर देवत्व तो क्या मनुष्यत्व भी घट रहा है। दानवत्व बढ़ रहा है।

लछमन का दिल है शिद्दतेगम से फटा हुआ,
दर पे है रामचन्द्र के रावण डटा हुआ।

शिक्षा के साथ व्रत नहीं है। व्रत के साथ शिक्षा देकर जीवन का निर्माण होता था गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में। वह प्रणाली नहीं रही, न रहे। उसके खंडहर हैं। हम इन्हीं की रक्षा कर रहे हैं। कोई दिन आयेगा कि कोई माई का लाल इस भव्य भवन को फिर बनायेगा। नाटक ही सही पर है तो हरिश्चंद्र सत्यवादी का नाटक। सुलताना डाकू का तो नहीं है।

आत्महीन लोगो! आर्य संकृति के दिव्य रूप की कल्पना करो जो कभी पुरानी नहीं होती। उषा के समान सदा नयी ही बनी रहती है।

अब गुरु बताता है कि शिक्षा प्राप्ति के लिए सबसे मुख्य वस्तु है स्वास्थ्य।

धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलकारणम्

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन सबका मूल कारण हैं "आरोग्य"। नीरोग व्यक्ति ही शिक्षा में सफल हो सकेगा और नीरोग रहने के लिए विद्यार्थी को अपना उदर ठीक रखना होगा। नाभि ही केन्द्र है। केन्द्र से विचलित न रहो। केन्द्र प्राकृतिक नियमों से चलायमान न होना चाहिए। जो व्यक्ति या जाति केन्द्र से, प्राकृतिक नियम अर्थात् धर्म से हटी और विश्रृंखली बन, वह विनाश की ओर चली जाती है। कंधे पर हाथ रख कर गुरु ने दृढ़तापूर्वक धर्म नियमों पर अटल रहने को समझाया। अब गुरु ने उदर पर हाथ रखकर कहा कि उदर को ठीक रक्खो।

भोजन की अव्यवस्था से ही अनेक रोग धर दबाते हैं। चटोरपन, रूक्ष, तिक्त, बासा भोजन, मांस, अंडे, मछली, भंग आदि उत्तेजनक पदार्थ उष्णता बढ़ाकर रक्तचाप (ब्लड प्रेशर), हृदय की धड़कन, वायु, कंप आदि रोग उत्पन्न करते हैं। मांस शरीर को पुष्ट करता है पर प्राण को चंचल करके निर्बल बना देता है। मांसभक्षी जीव अधिक श्रम नहीं कर सकते। सहसा फुर्ती से काम कर डालें, पर स्थिर श्रम उनसे नहीं हो सकता। सुरा रक्त को उत्तेजित कर हृदय को निर्बल बनाती है और भंग बुद्धि को नष्ट करती है।

अंडे वायु को बढ़ाकर अनेक वायु संबंधी रोग बुढ़ापे में पैदा करते हैं। ब्लड प्रेशर का रोग इस लिए बढ़ रहा है कि मनुष्य उत्तेजक भोजन करता है। कष्ट सहन की शक्ति इन पदार्थों के भोजन से नहीं रहती। प्राण निर्बल हो जाते हैं।

अब दोनों कंधों को छूकर गुरु ने बताया कि केवल पौष्टिक भोजन करते रहना और परिश्रम न करना रोगोत्पादक है। कंधों को छूकर बताया कि शारीरिक श्रम अवश्य करो। खेल-कूद भी श्रम है और घर के कामकाज भी श्रम हैं। प्राचीन काल में पानी भरना, लकड़ी काटना, गायों को चारा चुगाना प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आवश्यक था। परिश्रम और गो दुग्ध पान, खुली वायु में रहना, अब मिलाओ आजकल के सिगरेट चाय पीने वाले आलसी विद्यार्थियों से उन प्राचीनों का जीवन।

कष्ट सहिष्णु दीर्घ जीवी आनबान के पक्के और ये नाजुक अल्पप्राण इसीलिए शिथिल प्रतिज्ञ। अब गुरु ने हृदय पर हाथ रखकर कहा कि केवल भोजन और श्रम ही उत्तम स्वास्थ्य नहीं बना सकते। इसके साथ-साथ हृदय को निर्मल स्वच्छ रखना होगा। उत्तम विचार रखने होंगे। डाक्टर हनीमैन कहता है कि काम, क्रोध, द्वेष आदि बुरे विचार रखने से शरीर में शोरा पैदा होकर अनेक रोग उत्पन्न करता है। दुर्विचार अनेक भयंकर रोग प्रकट करते हैं। अतः पूर्ण स्वास्थ्य के लिए भोजन व्यवस्था ठीक रखना, व्यायाम और श्रम करना, स्वाध्याय सत्संग करना, कुसंग से दूर रहना भी आवश्यक है।

वैदिक धर्म कितनी उदारता सिखाता है यह यज्ञोपवीत की एक विधि से सिद्ध होता है। गुरु पूछता है:—

तुम किसके शिष्य हो ? तो ब्रह्मचारी कहता है:—आपके। तो उत्तर में गुरु कहता है कि तुम्हारा गुरु अग्नि है तुम्हारा गुरु इन्द्र है। इसके पश्चात् गुरु मैं हूँ। गुरुडम का कितना जोरदार विरोध है यह। मनुष्य सदा अपूर्ण है अतः पूर्ण परमात्मा ही पूर्ण गुरु हो सकता है, अग्नि ज्ञानस्वरूप, इन्द्र प्रकाशमान और ऐश्वर्यशाली भगवान् तुम्हारे गुरु हैं। यह ईश्वररूपी गुरु सदा संग रहता है और कभी बदलता नहीं अतः ईश्वर को गुरु मानो। कैसा सुन्दर, उदारता और विशालहृदयता का उपदेश है यहां।

आगे गुरु कहता है कि तुम्हें केवल मेरी ही शिक्षा नहीं, विश्व के जड़ चेतन सबसे शिक्षा लेनी है। संकीर्ण न बनकर उदार बनना है।

प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि, द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि, विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि, सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै।

हे शिष्य तुम्हें प्रजापति के लिए देता हूँ, देव सविता के लिए देता हूँ, द्यु लोक और पृथ्वी के लिए देता हूँ, संपूर्ण ज्ञानियों विद्वानों और दिव्य शक्तियों के लिए देता हूँ, नीरोगता के लिए सब प्राणी अप्राणी के लिए तुम्हें देता हूँ। पृथ्वी से लेकर द्यु लोक तक अनुसंधान करो, जलों और सब औषिधों की खोज करो। संपूर्ण ज्ञानियों से मिलो, प्रजापति, यज्ञ और जगत्पति भगवान् एवं सृष्टि प्रसविता ईश्वर के नियमों पर चलो, प्राणी मात्र से शिक्षा लो, जड़ चेतन सबके गुण जान कर संसार में नीरोगता फैलाओ। है न सार्वभौम ज्ञान का संदेश ! सब ही विद्वानों से मिलो, संकीर्ण साम्प्रदायिकता से कितनी दूर है वैदिक विचार शैली। सभी मतमतान्तर पोखर और कुएं की तरह सीमित हैं, तो वैदिक धर्म स्वच्छ बहने वाले महानद की तरह पवित्र है। तंगदिली का यहाँ नाम नहीं, जड़ चेतन पेड़ पौधे जल सबमें ज्ञान भरा है, स्वास्थ्य और सुख है, सब की खोज करो, सबसे ज्ञान लो, दृष्टि को कैसे विस्तार में लिये जा रहा है यह वेद मंत्र ! वाह, यह हुआ उपनयन। अब रहा "वेदारंभ"। ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी अर्चना करते हैं। "वेदस्य निधि या भूयासम्" हम ज्ञान के कोष के रक्षक बनें, 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (गीता) ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है। ब्रह्मचारी ने व्रत ही लिया है ज्ञानकोष की रक्षा का; कितनी ऊँची बात है।

अगले मंत्र में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी प्रतिज्ञा कर रहे हैं मैं 'अनिराकरिष्णु' द्वेष करके बदला लेने वाला न बनूं। 'अन्नाद:, अन्न खाने वाला बनूँ। यदि विद्यार्थी राग द्वेष और झगड़ों पर जाये तो विद्या संग्रह से दूर हो जायेगा ? अन्न खाने वाले तो सब ही प्राणी हैं पर वह खाना नहीं भख लेना है जिस खाने में संयम नहीं. विवेक नहीं, खाने का उद्देश्य नहीं। मनुष्य के खाने में संयम होना चाहिए भक्ष्य अभक्ष्य का विवेक होना चाहिए और खाने का उद्देश्य जीवन रक्षा और जीवन रक्षा का उद्देश्य जन हित होना चाहिए। इसलिए प्रार्थना है कि सच्चे अर्थों में हम अन्न खाने वाले बनें। फिर है 'जीव पुत्रो ममाचार्य:' मेरा आचार्य जीवित पुत्र हो। यह क्या शिष्य गुरु को आशीर्वाद दे रहा है ? नहीं, इस मंत्र में शिष्य अपने को ही आशीर्वाद दे रहा है:—

"मेरा आचार्य ऐसा हो कि उनके पुत्र जीवित हों, भाव यह है कि कि मैं अपने गुण कर्मों से जनता में अमर बनूंगा। मेरे अमर होने से मेरे गुरु अमर पुत्र कहलायेंगे। कोई सन्तान न होते हुए भी श्री रामकृष्ण परमहंस स्वामी विवेकानन्द जी के कारण जीवित पुत्र हैं। स्वामी दयानन्द जी ने स्वामी

विरजानन्द जी को जीवित पुत्र बना दिया। इन गुरुओं के शिष्य सदा ही जीवित हैं। इन यशस्वी पुत्रों का नाम काम कभी नहीं मर सकता। भाव यह है कि मैं ऐसा बनूंगा कि यश: शरीर से सदा जीवित रहूँ और मेरा गुरु सदा जीवित पुत्र कहलाये। ये विचार हमने बहुत ही संक्षेप में टिप्पणी मात्र लिखे हैं। पूरी व्याख्या के लिए तो बहुत बड़ी पुस्तक चाहिए। अब एक दो प्रश्नों पर भी विचार करना है।

प्रश्न—क्या कन्याओं का भी उपनयन होना चाहिए ?

उत्तर—अवश्य। नर-नारी दोनों में ही बुद्धि है अत: दोनों को ही ज्ञान प्राप्ति का अधिकार है और ज्ञान प्राप्ति के लिए आरंभिक चिह्न यह है। इसलिए पुराने समय में कन्याओं का भी उपनयन होता था।

यथा:—

पुरा काले च नारीणां मौञ्जी बन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्री वाचनं तथा॥

अर्थ:—पुराने समय में स्त्रियों का भी मौञ्जी बंधन (यज्ञोपवीत के समय मूंज की करधनी) बांधा जाता था।

अर्थात् उपनयन होता था। वेदों का पढ़ाया जाना और गायत्री मंत्र का उपदेश भी होता था। इस स्मृति वचन से सिद्ध होता है कि नारियों का उपनयन मध्य काल में बंद हुआ और उन्हें शूद्रों की बराबरी में रक्खा गया। व्याकरण में 'इन्द्रवरुण भवरुद्र ।४।१।४' इस सूत्र में आचार्य से ङीष् और आनुक् पुंयोग में होता है और पुंयोग के बिना टाप् ही होता है आचार्या की पत्नी "आचार्यानी" परन्तु जो स्वयं वेद पढ़ावे वो 'आचार्या' कहलाती है। आचार्य की परिभाषा मनु जी ने की है।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
साङ्गं सरहस्यं च तमाचार्यम् प्रचक्षते॥

जो शिष्य का उपनयन कराके अंगों और उपनिषदादि रहस्यों सहित वेद पढ़ावे वो आचार्य कहलाता है। तो जब स्त्री वेद पढ़ायेगी और आचार्या कहलायेगी तो उपनीता ही तो होगी।

हर्षवर्धन के समय बाण कवि हुए। कादम्बरी गद्य काव्य उनका बहुत प्रसिद्ध है। उसमें जब राजकुमार चन्द्रापीड हिमालय पर गंधर्व देश में पहुंचता है तो शिव मन्दिर में उसने 'महाश्वेता' एक गंधर्व कन्या को देखा। महाश्वेता शिवपूजन में लगी हुई थी। बाण लिखते हैं—

'अयुग्म लोचनसकाशात् प्रसादलब्धेन चूडामणिचन्द्रमयूखजालेनेव मंडलीकृत ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम् ।'

इस पंक्ति में 'ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम् ।' महाश्वेता का शरीर ब्रह्मसूत्र से पवित्र था यह वर्णन है । यद्यपि महाश्वेता एक कल्पित पात्र है। कादम्बरी एक उपन्यास मात्र है । परन्तु छठी शताब्दी में उत्पन्न हुए सरस्वती के अवतार माने जाने वाले बाण कवि अपनी कल्पना में स्त्रियों का यज्ञोपवीत धारण करना मानते हैं ।

अब उनसे भी पहले चलिए गोभिल गृह्यसूत्र प्र २ का १ में—

'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमेनामभ्युपानयत् जयेत् सोमोऽदद् गंधर्वायेति ।'

वस्त्राच्छादित, यज्ञोपवीत पहिनी हुई कन्या को मंडप में लावे और वर बोले 'सोमोऽदद् गंधवार्य' आदि वेदमंत्र ।

इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या होगा ।

भगवान् श्री रामचन्द्र जी जब महारानी कौशल्या से वनवास की आज्ञा लेने गए हैं उस समय—

सा क्षौमवसना दृष्टा नित्यं व्रतपरायणा ।
अग्निं जुहोति स्म तदा मंत्रवत् कृतमंगला ॥

रेशमी (और अलसी के बने) वस्त्र पहने हुए प्रसन्नचित्त नित्य व्रत में लगी हुई, उस समय हवन कर रही थीं। मंत्रों सहित और स्वस्तिवाचन करके वेदमंत्र सहित यज्ञ करने वाली महारानी कौशल्या क्या बिना यज्ञोपवीत के ही यज्ञ कर रही थीं । एक पामर पंडित ने लिखा है कि यहाँ 'जुहोति' क्रिया णिच् अंतर्भावित है अर्थात् हावयति के अर्थ में जुहोति है । वह हवन कर नहीं, पंडितों से करा रही थी । इन पंडित जी की बुद्धि पर दया आती है । क्या आदि कवि वाल्मीकि जी यहाँ हावयति का प्रयोग नहीं कर सकते थे ? क्या इन पंडित जी से उनकी संस्कृत निर्बल थी? फिर उन्होंने ऐसा संदिग्ध प्रयोग क्यों किया ? ये सब कल्पनायें व्यर्थ हैं । उस समय देवियाँ वेदादि का पूर्ण अधिकार रखती थीं और वे 'ब्रह्मवादिनी' कहाती थीं । दूसरी सद्योवधू थीं जो शास्त्रीय कामों में कम और गृहकार्यों में अधिक भाग लेती थीं ।

ईसाई मत में कोई स्त्री पादरी, बिशप, डीन, पोप कुछ नहीं बन सकती । मुसलमानी मत में स्त्री इमाम खलीफा नबी नहीं बन सकती । यह विशेषता है वैदिक धर्म की जो इसमें सैकड़ों ऋषिकायें, सहस्रों उपाध्यायें, आचार्यायें हुई हैं और हो सकती हैं । परन्तु ये अदूरदर्शी पंडित ऊट-पटांग अर्थ करके स्त्रियों को शूद्रों की पंक्ति में बिठाकर अपने धर्म का अपमान कर रहे हैं ।

ईश्वर इन्हें सद्बुद्धि दे।

प्रश्न—क्या शूद्र के बालकों का भी यज्ञोपवीत होना चाहिए ?

उत्तर—जन्मना कोई शूद्र नहीं है। शूद्र घर में उत्पन्न हुए बालक भी गुरुकुलों में जायें और उनकी जाँच करके आचार्य उन्हें जैसा योग्य समझेंगे वैसा करेंगे।

प्रश्न—यज्ञोपवीत कितने पहनने चाहिए क्योंकि कुछ लोग एक पहनते हैं और कुछ दो धारण करते हैं ?

उत्तर—**'यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्त्ते च कर्मणि।**
तृतीयमुत्तरीयार्थं वस्त्राभावे तु दर्शितः॥
(विश्वामित्रस्मृति)

(२) उपवीतम् बटोरेकं द्वे तथेतरयोः स्मृतः (मदन वारिजातः)

(३) ब्रह्मचारिण एकं स्यात् स्नातस्य द्वे बहूनि वा।
तृतीयमुत्तरीयार्थं वस्त्राभावे तु दर्शितः (स्मृत्यर्थसार)

अर्थ—श्रौत और स्मृति कर्म में दो यज्ञोपवीत धारण करने चाहिए। उत्तरीय (उपरना) न हो तो तीन यज्ञोपवीत धारण कर लें।

प्रश्न—यज्ञोपवीत का वेद में संकेत नहीं अत: यह अवैदिक है ?

उत्तर—वेद में उपवीतपृष्ठ, उपनीता आदि शब्द कई स्थानों पर आये हैं जो सिद्ध करते हैं कि पुरुष और स्त्री दोनों उपवीत धारण करने वाले हों। मनुस्मृति और अन्यग्रन्थ वेद के इन्हीं शब्दों की व्याख्यायें हैं जो यज्ञोपवीत का पूरा रूप दर्शाती हैं।

यज्ञोपवीत और वर्गवाद

एक पुंगवबुद्धि राजनैतिक नेता श्री मधु लिमये ने श्री जे. पी. के जनेऊ तोड़ आन्दोलन का समर्थन करते हुए कहा है कि जनेऊ से वर्गभेद स्थापित होता है अत: जनेऊ उतार देने चाहिए। भौतिकवाद की धूलि से धूसरित ये राजनैतिक नेता धर्म में टाँग अड़ाकर अपना उपहास कराते हैं। इनसे पूछा जाये कि जनेऊ के कारण वर्गभेद फैलता है तो ग्रेजुएटों के गाउन, जजों के चोगे और फौजियों की वर्दी भी उतरवाओगे क्या ? हे बुद्धिहीन नेताओ, ईश्वर तुम्हें सुबुद्धि दे, वर्गभेद तो प्रकृति ने कर रखा है। बासमती का धान, हंसराज का धान, उसवा का धान आदि धानों की सैकड़ों किस्में हैं। सैकड़ों प्रकार का आम होता है, दसियों प्रकार का सेब। क्या इन सब वर्ग भेदों को मिटाकर संसार को प्रलय अवस्था में लाना चाहते हो ?

यज्ञोपवीत चिह्न है व्रत लेने वालों का, जो व्रत पूरा कर चुके है (संन्यासी) वा जो व्रत लेने की योग्यता नहीं रखते (अल्पबुद्धि जन) उनके लिए यज्ञोपवीत नहीं है। यह छुटाई बड़ाई का चिह्न नहीं है, किन्तु व्रत पालन की सदा याद दिलाने के लिए ज्ञान, कर्म, उपासना के स्मारक रूप तीन धागे हैं। जो जन इस व्रत को शिक्षा और सदाचार द्वारा पूर्ण करने को व्रती बनते हैं उनको यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थी यज्ञोपवीत अवश्य धारण करें। शूद्र जो संख्या में बहुत ही कम रह जाते हैं वे जनेऊ पहनने को बाध्य नहीं हैं।

उक्त वर्ण जन्म से नहीं, किन्तु गुण, कर्म, स्वभाव से होते हैं। गुण, कर्म स्वभाव का यह भेद सृष्टि में सदा रहा है और रहेगा। सबकी मानसिक शक्ति और कार्यशक्ति एक सी नहीं होती। स्वभावों में भी नानाप्रकार के भेद है। मनुष्यों में ही नहीं, पशु पक्षियों में भी स्वभाव का भेद पाया जाता है। अतः अपने स्वार्थों के लिए लाखों वर्ष की मंजी हुई परम्पराओं का विरोध करके जनता को कुमार्ग में मत भटकाओ। सब रीति नीतियों का नपैना तुम्हारी छोटी बुद्धि रूप गज नहीं हो सकता। इन परम्पराओं की तोल योगीश्वर साक्षात्कृतधर्मा ऋषि ही कर सकते हैं।

गायत्री मंत्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

इस मंत्र में जो प्रथम (ओ३म्) है उसका अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है, वहीं से जान लेना। अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से लिखते हैं। "भूरिति वै प्राणः" यः प्राणयति चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः" जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है उस प्राण का वाचक होके "भूः" परमेश्वर का नाम है। "भुवरित्यपानः" "यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः" जो सब दुःखों से रहित, जिसके सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इसलिए उस परमेश्वर का नाम "भुवः" है। "स्वरिति व्यानः" यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः" जो नानाविधि जगत् में व्यापक होके सब का धारण करता है इसलिए उस परमेश्वर का नाम स्वः है। ये तीनों वचन तैत्तिरीय आरण्यक (प्रपा० ७। अनु० ५) के हैं। (सवितुः) "यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता तस्य"

जो सब जगत् का उत्पादक और सब ऐश्वर्य का दाता है (देवस्य) 'यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः' जो सर्व सुखों का देनेहारा और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं उस परमात्मा का जो (वरेण्यम्) "वर्तुमर्हम्" स्वीकार करने योग्य, अति श्रेष्ठ (भर्गः) "शुद्ध स्वरूपम्" शुद्धस्वरूप और पवित्र करने वाला चेतन ब्रह्मस्वरूप है (तत्) उसी परमात्मा के स्वरूप को हम लोग (धीमहि) "धरेमहि" धारण करें। किस प्रयोजन के लिए कि (यः) "जगदीश्वरः" जो सविता देव परमात्मा (नः) "अस्माकम्" हमारी (धियः) "बुद्धीः" बुद्धियों को (प्रचोदयात्) "प्रेरयत्" प्रेरणा करे अर्थात् बुरे कामों से छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे।"

"हे परमेश्वर ! हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव! हे अज, निरंजन, निर्विकार ! हे सर्वान्तर्यामिन् । हे सर्वाधार जगत्पते ! सकल जगदुत्पादक ! हे अनादे विश्वम्भर ! सर्वव्यापिन् ! हे करुणामृतवारिधे ! सवितुर्देवस्य तव यदोम्भू र्भुवः स्वर्वरेण्यं भर्गोऽस्ति तद्वयं धीमहि धरेमहि दधीमहि ध्यायेम वा । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह । हे भगवन ! यः सविता देवः परमेश्वरो भवानस्माकं धियः प्रचोदयात् स एवास्माकं पूज्य उपासनीय इष्टदेवो भवतु नातोऽन्यं भवत्तुल्यं भवतोऽधिकं च किञ्चत् कदाचिन्मन्यामहे ।"

हे मनुष्यो जो सब समर्थों में समर्थ, सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्त स्वभाव वाला, कृपासागर, ठीक-ठीक न्याय का करने हारा, जन्म मरणादि क्लेश रहित, आकार रहित, सब के घट-घट का जानने वाला, सब का धर्त्ता, पिता, उत्पादक, अन्नादि से विश्व का पोषण करनेहारा, सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता शुद्ध स्वरूप और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है उस परमात्मा का जो शुद्धचेतन स्वरूप है उसी को हम धारण करें। इस प्रयोजन के लिए कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामीस्वरूप हमको दुष्टाचार, अधर्मयुक्त मार्ग से हटा के श्रेष्ठाचार, सत्य मार्ग में चलावे, उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग नहीं करें।

क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है। वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश और सब सुखों का देने हारा है।

(सत्यार्थप्रकाश से उद्धृत)

—स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया

महर्षि पतञ्जलि ने शब्दानुशासन या व्याकरण अध्ययन करने के पांच प्रयोजन अपने महाभाष्य में गिनाये हैं—रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्—अर्थात् (१) वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण पढ़ना, (२) ऊह भी प्रयोजन है, अर्थात् विभक्ति आदि का परिवर्तन; वेद में मंत्र सभी लिङ्गों में और सभी विभक्तियों के सहित नहीं पढ़े गए, और इसलिए यज्ञादि कर्मों में जब उनका प्रयोग होगा, तो उन्हें उचित रीति से परिवर्तित करना होगा। (३) व्याकरण स्वयं एक वेदांग है. अतः इस निमित्त से भी व्याकरण जानना चाहिए (अगम)। (४) लाघव के निमित्त से भी व्याकरण पढ़ना चाहिए. और अन्त में (५) सन्देह-निवृत्ति के निमित्त व्याकरण जानना चाहिए। लगभग ये ही पाँचों प्रयोजन अन्य उपांगों और वेदांगों के अध्ययन के भी हैं। वेद का आशय समझने के लिए छन्द, ज्योतिष्, रसायन, भौतिकी, प्राणिशास्त्र, आयुर्वेद आदि अनेक विद्याओं का जानना आवश्यक है।

निरुक्त के आचार्य यास्क के अनुसार ऋचायें तीन प्रकार की होती हैं—"तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः आध्यात्मिक्यश्च।" (निरुक्त ७।१)। इनमें से, परोक्षरूप से संबोधित मंत्रों की नामों की सब विभक्तियों में रचना हुई है, क्रिया में केवल प्रथम पुरुष का प्रयोग हुआ है। प्रत्यक्ष रूप से संबोधित मन्त्रों की रचना मध्यम पुरुष में है, और सर्वनाम "त्वम् (तू)" का प्रयोग किया गया है। आध्यात्मिक (स्वयं को संबोधित) मंत्रों में उत्तम पुरुष 'अहम्' सर्वनाम का प्रयोग है।

इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में परोक्ष-निर्देश के अन्तर्गत प्रथम पुरुष का प्रयोग करते हुए ईश्वर के सम्बन्ध में इस प्रकार के वाक्य हैं—

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स,
दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम्।

वह प्रभु नीचे-ऊपर, पीछे-आगे, बायें-दायें, छहों दिशाओं में व्याप्त है।

इसी बात को अहंकार-आदेश के अंतर्गत उत्तम पुरुष का प्रयोग करते समय इस प्रकार कहेंगे—

प्रयोग को (जहामि) छोड़ देता हूं। तथा (हस्तीव) हाथी जैसे (रजः) धूल को छोड़ देता है ऐसे (दुरितम्) घातक प्रयोग को छोड़ देता हूं।

इस सूक्त में कृत्या लौटाने की चर्चा पुनः पुनः है और उपाय ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र, वैद्युतास्त्र, सौम्यास्त्र बतलाएं हैं। इससे पूर्व सावित्रास्त्र (सौरास्त्र) और बार्हस्पत्यास्त्र से हटाने का भी वर्णन बतला आए हैं। इन अस्त्रों से कृत्याओं को छिन्न भिन्न और निर्बल किया जाता है तथा इनके द्वारा कृत्याओं की अभिगति (अपनी ओर आक्रमणकारी गति) को शान्त करके प्रति-गति (लौटने की गति) देकर अपने जनस्थान–सेना मण्डल से हटाकर शत्रु के जनस्थान--सेना मण्डल या देश में प्रेरित कर देना होता है। अस्तु। इस प्रकार 'कृत्याएं' दोनों प्रकार की वायव्य विष प्रयोग (विषैली गैस बनाने का साधन) और स्फोटक अर्थात् तोड़ फोड़ मचाने वाला ध्वंसक खनिज आदि का प्रयोग ये दोनों ही धनुर्विद्या शस्त्रास्त्र–विद्याविषयक चर्चा है कोई कल्पित मन्त्र जादू टोना की बात नहीं है॥

बलग और अभिचार—

'बलग' भी एक घातक प्रयोग का नाम है जो 'कृत्या' और 'अभिचार' से भिन्न है। कृत्याएं दो प्रकार की

बतलाई गई हैं, एक वायु आदि को विषैला बना देने वाली दूसरी स्फोटक खनिज पदार्थों से युक्त मकानों नगरों को तोड़ने फोड़ने वाली कही है। और 'अभिचार' किसी को खान-पान आदि में विष देकर हिंसा करने का नाम है परन्तु वलग' उस प्रयोग का नाम है जिससे न वायु आदि विषदूषित किये जावें या मकान नगर आदि तोड़े जावें और न किसी को खानपान में विष देकर हिंसा की जावे किन्तु इन दोनों से भिन्न बन्धनस्तम्भनकारी तथा उपद्रवकारी गुप्त प्रयोग है जो कि कहीं भूमि आदि में गाड़ या दबा छिपा दिया जावे और पुनः कालान्तर में हानिकारक सिद्ध हो 'वलग' से स्थानिक व्यक्तियों को पीड़ा और 'कृत्या' से पूरे पूरे नगर सेनामण्डल और देश का घात होता है। अस्तु। कृत्या के सम्बन्ध में तो बतलाया जा चुका है। अब 'वलग' और 'अभिचार' के सम्बन्ध में यहां विचार करना है। 'वलग' शब्द "वल वल्ल संवरणे संचलने च" (भ्वादि०) से बना है इसका शब्दार्थ जो प्रयोग संवरण अर्थात् स्वयं सङ्कोच दूसरे को आकर्षण करने और संचलन करने अर्थात् स्वयं चंचल हो जावे दूसरे को चंचल करदे जो प्रथम संकुचित हो पुनः जहां गाड़े या छिपावे वहां के स्थान में विकृति चंचलता उत्पन्न कर मनुष्य आदियों का संवरण-आकर्षण कर उन्हें क्षुब्ध और कम्पित करके पीड़ित करदे विद्युत् की भांति अपना प्रभाव उनके अन्दर डालदे जिससे उनका मुक्त होना असम्भव हो

जावे। ऐसे वैद्युत-शक्ति-भरे प्रयोग का नाम 'वलग' है। 'अथर्व० काण्ड १० । १ । १८ में 'वलग' अथर्व० काण्ड १६ । ६ । ६ । में 'वल्ग' पाठ है। इनमें वास्तविक पाठ 'वलग' ही है 'वल्ग' पाठ वाले (अथर्व १६ । ६ । ६) की टिप्पणी में कचित् पुस्तकों में 'वलग' पाठ भी दिया है। तथा तैत्तिरीय संहिता में भी 'वलग' पाठ है अतः शुद्ध पाठ 'वलग' ही है अन्यत्र भी अथर्व वेद का० ५ । ३१ । ४ में 'वलग, ही पाठ है। अस्तु। 'वलग' गाड़े जाने वाले छिपाये जाने वाले घातक प्रयोग हैं इसके लिए निम्न वचन देखिये—

> असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान् न्यखनन्।
> तान् बाहुमात्रे न्वविन्दन् तस्माद् बाहुमात्राः खायन्ते॥
>
> (तै० सं० ६ । २ । ११ । १)

निकलते हुए-छोड़कर जाते हुए असुरों ने देवों के प्राणों के निमित्त-प्राणों के नाशार्थ वलगों को नीचे गाड़ दिया उन्हें बाहुमात्र परिमाण में गड़े हुए पाया क्योंकि बाहुमात्र परिमाण में ही नीचे गाड़े जाते हैं*। वलग में विष-पदार्थ भी होते हैं ऐसा सायण ने लिखा है—

> विषवृक्षादिनिर्मिताः पुत्तल्यो वलगा इत्युच्यन्ते।
>
> (अथर्व. १९ । ९ । ९ सायणभाष्य)

---

* अथर्ववेद में भी वलग को गाड़ने का विधान है "वलगं वा निचख्नुः" (अथर्व १० । १ । १८)

वलग और अभिचार के मन्त्र इकट्ठे हैं अतः दोनों के सम्बन्ध में अन्य कुछ विवरण मन्त्रों द्वारा इकट्ठा ही दिया जावेगा। 'अभिचार' का शब्दार्थ किसी के शरीर पर आक्रमण कर या शरीर में प्रविष्ट हो उसे खा जाने वाला विषप्रयोग है यह पीछे बतला आए हैं। 'शब्दकल्पद्रुम' में इसका अर्थ किया है कि "अभिचारः आभिमुख्येन शत्रुवधार्थं चारः कार्यंकरणम्" (शब्दकल्पद्रुमः) तन्त्रग्रन्थों के अनुसार अभिचार के छः विशेष कर्म हैं जिनसे किसी का 'मारण, मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, वशीकरण' किया जाता है। "षट्कर्म प्रदीपिका तन्त्र" में मारण आदि के प्रारम्भ में कहा है—

अभिचारस्य विषयानाकर्णय वदामि ते।
सक्रूरे क्रूरवर्गस्थे चन्द्रे वलिनि शोधने॥
विष्टियोगे च कर्तव्योऽभिचारोऽप्यरिनैधने॥ १॥
विषाग्निक्रूरशस्त्राद्यै र्हिंसक प्राणिनां मुदा।
योजयेन्मारणे कर्मण्येतान्न पातकी भवेत्॥ २॥

(षट्कर्मप्रदीपिकातन्त्र मारणम्। १,२)

इन प्रयोगों में भी विष तथा विष-जैसे उग्र पदार्थों का उपयोग कर किसी को मारना मोहित करना जड़ बनाना आदि होता है ऐसा तन्त्रग्रन्थों में देखा गया है। यहां विस्तारमय से केवल एक दो प्रयोग ही उद्धृत किये जाते हैं—

(मारणम्) ऊर्णनाभश्च षड्विन्दुं समांशं कृष्णवृश्चिकम्।
यस्याङ्गे निक्षिपेच्चूर्णं सप्ताहात् स्फोटकैर्मृतिः॥

(मोहनम्) महिष्याः कृष्णसर्पस्य रक्ते चूर्णन्तु भावयेत्
कृष्णधुस्तूरपञ्चाङ्गं तद्धूपो मोहकृन्नृणाम् ॥
(ऐन्द्रजालिक सिद्धनागार्जुनकक्षपुट तन्त्र)

अब अथर्ववेदानुसार 'वलग' और 'अभिचार' पर प्रकाश डालते हैं ।

नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नोभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः । शं नो निखाता वलगाः शमुल्का देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु ॥
(अथर्व० १६ । १ । ६)

इस मन्त्र में उल्काओं से घिरा हुआ नक्षत्र, अभिचार, कृत्या, वलग, उल्का, देशोपसर्ग (देश के उत्पात-भूमि के उत्पात) के शमन करने का वर्णन है यहां अभिचार और कृत्याओं के साथ 'वलग' का वर्णन होने से 'वलग' को भी वैसा ही घातक होना सिद्ध करता है । दूसरी बात मन्त्र में विशेष कही गई है 'निखाता वलगाः' वलग नीचे गाड़े-दबाए-बिछाए-छिपाए जाते हैं अथर्व १० । १ । १८ में वलग को जल में गाड़ने दबाने बिछाने छिपाने का वर्णन आया है । जल में दबाना, बिछाना, छिपाना जाल के सदृश होसकता है जो शत्रु के यात-आयत यानों जहाजों का संवरण आकर्षण और संचलन तथा उन्हें बिखेर तोड़ फोड़ कर नष्ट कर देने का काम करता है वे वलग सुरंगों के रूप में हैं । अब केवल अभिचार के सम्बन्ध में ही वर्णन करते हैं ।

अभिचार का सम्बन्ध केवल व्यक्ति के साथ ही है और विषयुक्त खान पान आदि द्वारा किसी को मारने का नाम अभिचार है यही बात अथर्व वेद के निम्न मन्त्र से स्पष्ट होती है।

परि त्वा पातु समानेभ्योभिचारात्सबन्धुभ्यः।
अमम्रिर्भवामृतोतिजीवो मा ते हासिषुरसवः
शरीरम् ॥

(अथर्व० ८।२।२६)

अर्थ— (समानेभ्यः सबन्धुभ्यः) समानाधिकार-समानपद वाले तथा बन्धु-बान्धवों से हुए (अभिचारात्) अभिचार से-खान पान में विषप्रयोग से-खान पान आदि द्वारा घातक विषप्रयोग से (त्वा) तेरी (परिपातु) भेषज-औषध रक्षा करे। तू (अमम्रिः) उस अभिचाररूप विषप्रयोग से न मरने वाला (अमृतः) मरणरहित-स्वस्थ (अतिजीवः) दीर्घजीवनवाला (भव) हो (असवः) प्राण (ते शरीरम्) तेरे शरीर को (मा हासिषुः) मत त्यागें।

यहां समानस्पर्द्धा वाले जनों तथा बन्धुओं द्वारा किए अभिचार से मर जाने की सम्भावना और भेषज से न मरने देने की चर्चा से अभिचार निश्चित खान पान आदि में विषप्रयोग का नाम है। तथा 'त्वा' शब्द एकवचन मन्त्र में आने से 'अभिचार' का क्षेत्र अल्प परिमित व्यक्ति तक होने से भी यह भोजन में विषप्रयोग है। तथा-

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि। मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज ॥

(अथर्व० ११ । १ । २२)

अर्थ—(पशुभिः सह-एनाम्-अभ्यावर्तस्व) गौ आदि पशुओं सहित इस गृहपत्नी का भली भांति उपभोग कर (देवताभिः सह-एनां प्रत्यङ् एधि) देवताओं सहित इस गृहदेवी को बाहर से निवृत्ति पाकर पूर्णरूप से अपना (त्वा) तुझे (शपथः) स्पृश्यरोग छूत की हवा "शपति स्पृशतिकर्मा" (निरुक्त० ३ । २१) (मा प्रापत्) न प्राप्त हो (मा-अभिचारः) भोजन आदि में विषप्रयोग मत प्राप्त हो (स्वे क्षेत्रे) अपने परिवार में (अनमीवा विराज) रोगरहित हुआ विराजमान हो।

यहां 'अनमीवा' रोगरहित होने का प्रसङ्ग 'अभिचार' को मारण विषप्रयोग सिद्ध करता है और वह 'त्वा' से व्यक्तिगत अल्पस्थान वाला प्रयोग सिद्ध होता है। ऐसे व्यक्तिगत विषप्रयोगरूप अभिचार के दूर करने के उपाय पर भी विचार करते हैं।

यत् त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥

(अथर्व० ५ । ३० । २)

अर्थ—(त्वा) हे प्रिय ! तेरे प्रति (यत्) जो (स्वः पुरुषः) अपना मनुष्य (यत्) जो (अरणः-जनः) अन्य दुष्टजन (अभिचेरुः) अभिचार करते हैं–खान पान आदि में घातक विष का प्रयोग करते हैं (ते) उस तेरे लिए (वाचा) अपनी वाणी से (उन्मोचनप्रमोचने) उन्मोचन अर्थात् विष-पदार्थ को उत्क्लेशित करने उखाड़ने–बाहर निकालने और प्रमोचन अर्थात् शमन करने रूप (उभे) इन दो उपायों को (वदामि) बतलाता हूं।

जब किसी के द्वारा विष दिया पेट में चला जाता है तो उसके प्रभाव को नष्ट करने के दो ही उपाय या साधन हैं। एक तो उस विषपदार्थ को उत्क्लिष्ट कर देना अर्थात् ऐसी ओषधियां देना जिनसे वमन और विरेचन हो जावे। तुरन्त खाया हुआ विष जबकि आमाशय में ही हो तो वमन कराना और देर हो गई हो पक्वाशय में पहुंच गया हो तो विरेचन कराना अथवा दोनों वमन विरेचन कराना चाहिए। इस प्रकार ओषधियों से वमन और विरेचन कराना उदर के विष का 'उन्मोचन' उखाड़ना बाहर निकालना है। दूसरा उपाय या साधन उस विषपदार्थ के विषत्व या प्रभाव को अन्दर ही अन्दर शान्त कर दे ऐसी सञ्जीवनी अगदों–ओषधियों और घृत मधु आदि का प्रयोग करना प्रमोचन अर्थात् शमन करना है। 'सुश्रुत' और 'चरक' में विषभक्षण पर ये ही दो उपाय बतलाये गए हैं—

महासुगन्धमिदमगदं यं प्रवक्ष्यामि तं भिषक्।
पानालेपनस्येषु विदधीताञ्जनेषु च॥
विरेचनानि तीक्ष्णानि कुर्यात्प्रच्छर्दनानि च।
(सुश्रुत कल्पस्थान। अध्याय १। ७५-७६)

मन्त्र में 'उन्मोचनप्रमोचने' में उन्मोचन अर्थात् वमन विरेचन प्रथम कहा है एवं 'सुश्रुत' 'चरक' में भी प्रथम ही वमन विरेचन का विधान है। देखिये—

आमाशयं गतम्-तत्राशुमदनालाबुबिम्बीकोशातकी
फलैः छर्दनम्।
पक्वाशयं गतम्- विरेचनं ससर्पिष्कं तत्रोक्त
नीलनीफलम्॥
(सुश्रुत कल्पस्थान अ० १। ३९।, ४१)

अब अभिचार के दूर करने का एक और उपाय अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त ३ मन्त्र ७ में बतलाया है वह भी देखिये—

अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात्।
मृत्योरोजीयसो वधाद् वरणो वारयिष्यते॥
(अथर्व०। १०। ३। ७)

इस मन्त्र में कायरता, उदासीनता, अभिचार, भय, मृत्यु और वध से बचाने वाला 'वरण' मणि बतलाया है। हम पीछे 'मणिबन्धन' प्रकरण में 'वरण मणि' का वर्णन कर आए हैं वहां इसके सेवन करने के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाल

आए हैं 'वरण' बरना वृक्ष है यह हृदय रोग को दूर करता है यह भी हम वहीं 'वरण मणि' के प्रकरण में आयुर्वेदिक प्रमाणों से दर्शा आए हैं। यहां मन्त्र में इसे 'अभिचार' से बचाने वला इसी लिए कहा है कि 'अभिचार' खान पान में विषप्रयोग हो जाने पर हृदय की रक्षा भी अत्यन्त आवश्यक है जैसा कि 'सुश्रुत' और 'चरक' में विषभक्षण पर हृदय की रक्षा करना बतलाया है "हृदयावरणं नित्यं कुर्याच्च मिश्रमध्यगः" (सुश्रुत कल्पस्थान। अ० १ । ७८) "आदौ हृदयं रक्षयं तस्यावरणं पिबेद्यथालाभम् ।" (चरक। विषचिकित्सा । अ० २३ । ४४) अतः अथर्ववेद ने 'वरण' बरना को अभिचार से रक्षा का साधन बतलाया है।

इस प्रकार 'अभिचार' पर वैदिक विचार करने से यह स्पष्ट हुआ कि किसी व्यक्ति के घात के लिए खान पान में विष-प्रयोग का नाम 'अभिचार' है। कोई तान्त्रिक, कल्पित कल्पना से मन्त्र या जादू टोटका आदि नहीं है।

॥ इति ॥

१ । ११ । १६४१ ई०

प्रियरत्न आर्ष

ओ३म्

अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या

मन्त्रों की

वर्णानुक्रमसूची

संसार के इतिहास में पहली बार

चारों वेदों का हिन्दी भाष्य

१२५०० छप रहा है

जो वेद का प्रचार धर्म समझें ऐसे

५ व्यक्ति चाहिएँ जो ५००१) दे सकें
१०० व्यक्ति चाहिएँ जो १००१) दे सकें
२०० व्यक्ति चाहिएँ जो ५०१) दे तकें
५०१) देने वालों का नाम व १००१)
देने वालों का चित्र वेद भाष्य में छपेगा

आप इस पवित्र यज्ञ में क्या भज रहे हैं ?
आज ही भेजिये; कम या अधिक
पर भेजिये अवश्य

'वेद-गंगा' बहाने का पुण्य प्राप्त कीजिए

ड्राफ्ट या मनीआर्डर—

"दयानन्द संस्थान" के नाम भेजें

संपादक - मुद्रक - प्रकाशक पंडिता राकेश रानी द्वारा सैनी प्रिन्टर्स
दिल्ली में छपा

जन-ज्ञान (मासिक)
१५६७, हरध्यानसिंह मार्ग
करौल बाग, नई दिल्ली-५
दूरभाष ५६६६३६

D.A.V.P. से स्वीकृत
अगस्त १६७५
भाद्रपद २०३२

रजि० नं०
डी०--(सी०) २०१
R.N.No. 107115/65



आर्यसमाज के गौरव : शास्त्रार्थमहारथी
व्याख्यावाचस्पति : वेद मर्मज्ञ

पं० बिहारी लाल शास्त्री

आपका लेख उपनयन का महत्त्व इसी अंक में पढ़ें
और यह ट्रैक्ट रूप में भी उपलब्ध है